TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNEVEN PAGES WITHIN THE BOOK ONLY.

UNIVERSAL LIBRARY

OU_182587

UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H82 V31B
Accession No. PG H819

Author वर्मा, वृन्दावनलाल

Title बांस की फांस. 1947

This book should be returned on or before the date last marked below.

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—प्राक्कथन ...	... ११-६३
२—मंगलाचरण ...	... १
३—श्री उद्धव को मथुरा से ब्रज भेजते समय के कवित्त	... १
४—श्री उद्धव के मथुरा से ब्रज आते समय के मार्ग के कवित्त	... २१
५—श्री उद्धव के ब्रज में पहुँचने के समय के कवित्त	... २७
६—श्री उद्धव-वचन ब्रजवासियों से ...	... ३५
७—गोपी-वचन उद्धव-प्रति ...	... ४१
८—उद्धव के ब्रज से बिदा होते समय के कवित्त	... १०७
९—उद्धव के ब्रज से लौटते समय के कवित्त	... ११५
१०—उद्धव के मथुरा लौट आने के समय के कवित्त	... ११९
११—ब्रज से लौटने पर उद्धव-वचन श्री भगवान्-प्रति	... १२७

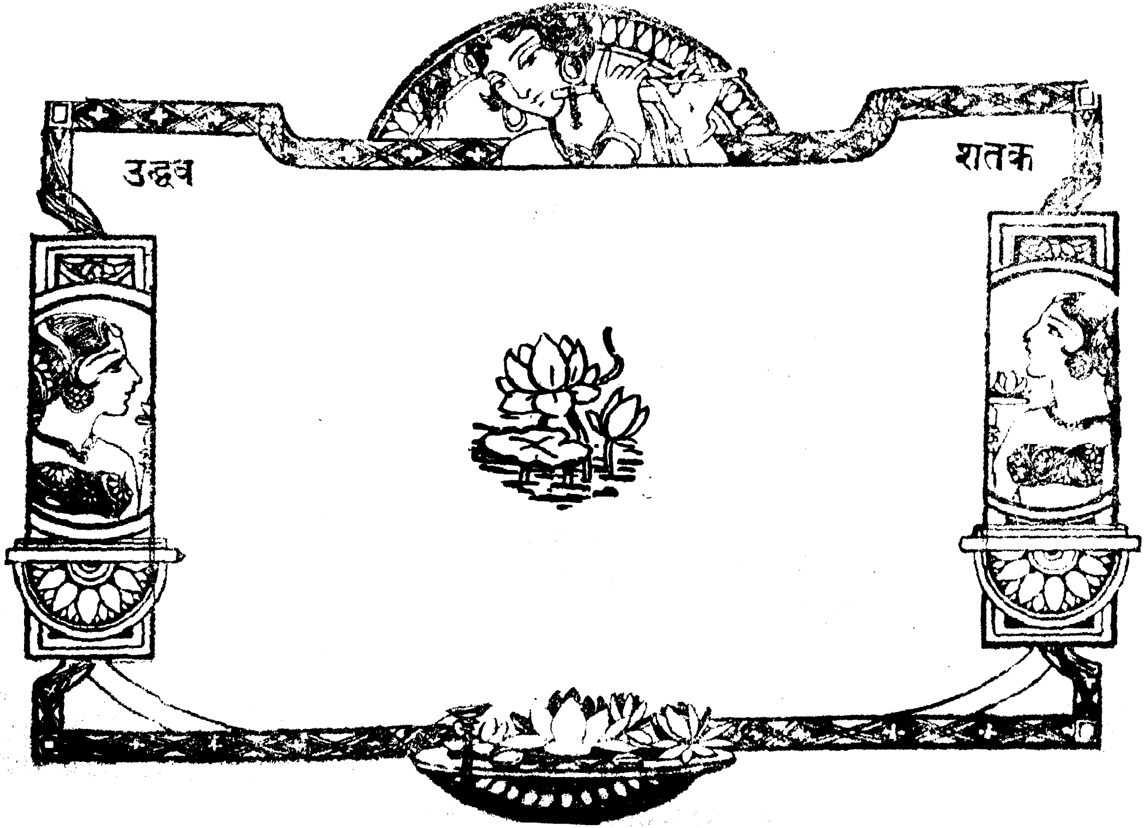
उद्धव
शतक

दो शब्द

ईश्वरानुकम्पा से आज हम इस पुस्तक के रूप में अपने गुणग्राही, सहृदय तथा प्रेमी पाठकों के सम्मुख यह प्रभाति प्रस्तुत करते हैं। साहित्य-मर्मज्ञ ब्रजभाषाचार्य्य महाकवि श्री बाबू जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' के परम प्रतिभावान् रुचिर-रत्नों का यह अनुपम हार हमें उदारतापूर्ण उपहार के रूप में प्राप्त हुआ है।

हमारा 'रसिक-मण्डल'—जिसने अपनी चार वर्ष की ही सेवा से हिन्दी के प्रायः सभी सहृदय विद्वानों, आलोचकों और कविवरों आदि की स्नेहमयी सहानुभूति प्राप्त कर ली है—श्री 'रत्नाकर' जी की उदार कृपा का, कहना

व्यर्थ एवं उपचार-मात्र है, इस रत्नदान के लिए हृदय से ऋणी और कृतज्ञ है, और सदैव रहेगा।

हिंदी-काव्य-साहित्य और विशेषतया व्रजभाषा-काव्य-साहित्य के संरक्षण, प्रवर्धन एवं उसका जनता में प्रचार करने के उद्देश्य को सामने रखकर रसिक-मण्डल ने जिस प्रकार प्रत्येक पूर्णिमा तथा अन्य विशेष तिथियों पर कवि-सम्मेलनों और विद्वानों के व्याख्यानादि का विधान किया है, उसी प्रकार प्रकाशन-कार्य्य भी उसने प्रारम्भ किया है।

प्रथम श्री 'रत्नाकर' जी ने श्री 'रसालजी' से इसकी भूमिका शीघ्र लिखकर श्री राय कृष्णदासजी के पास बनारस भेज देने के लिए कहा, क्योंकि इसे वे ही प्रकाशित करना चाहते थे। पर हम लोगों ने इसे मण्डल की ओर से प्रकाशित करना सोचा! 'रत्नाकर' जी से प्रार्थना की, उन्होंने श्री राय

कृष्णदासजी से अनुमति लेकर कृपापूर्वक इसे मण्डल को दे दिया। अस्तु; रसिक-मण्डल श्री राय कृष्णदासजी का भी अनुगृहीत है।

रसिक-मण्डल सदैव आभारी रहेगा श्रीयुत हरिकेशवजी घोष, अध्यक्ष इंडियन प्रेस, प्रयाग का जिनकी कृपा से यह ग्रन्थ ऐसी अनुपम सुन्दरता के साथ वस्तुतः रत्नरूप में ही प्रकाशित हुआ है।

हमें पूर्ण आशा है कि हिन्दी का सहृदय संसार इस रत्न को हृदय से अपनायेगा। तथास्तु।

निवेदक
साहित्य-मन्त्री

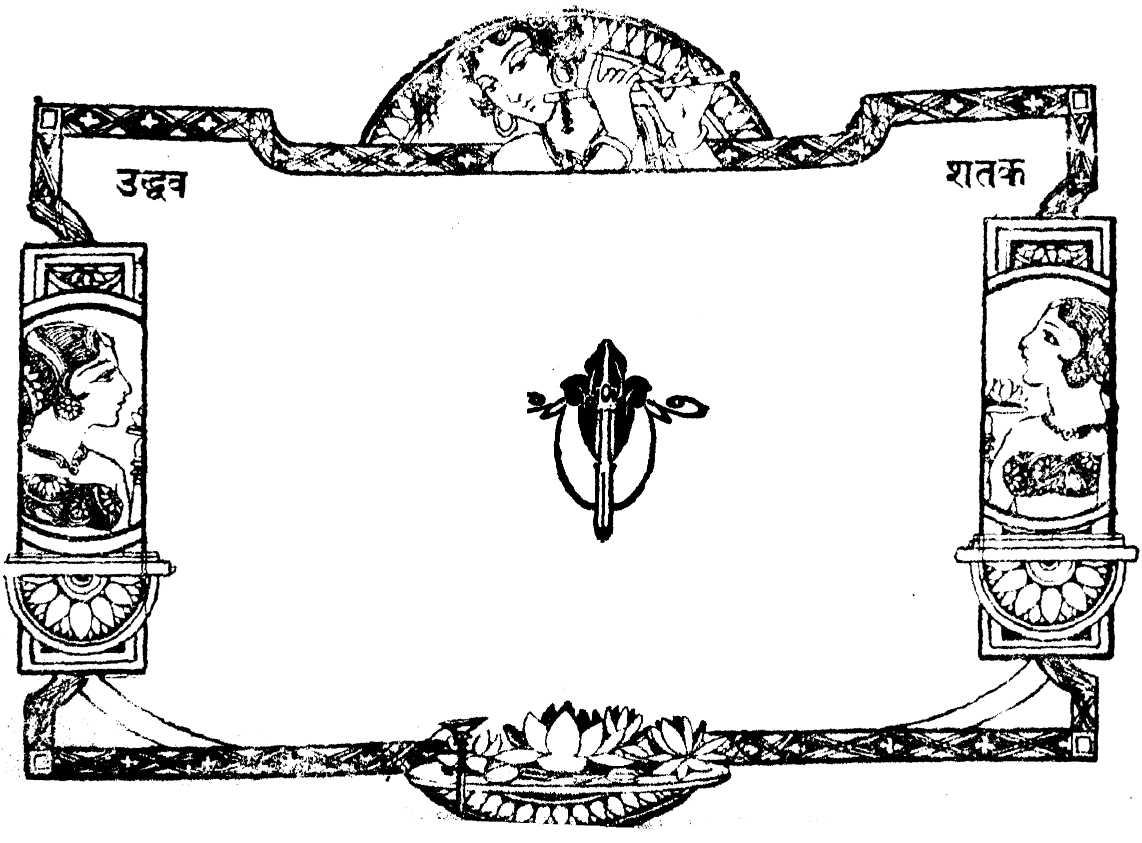
उद्धव
शतक

'रत्नाकर'

निवेदन

कविता में मेरी रुचि कुछ लड़कपन ही से है। ४० या ४५ वर्ष हुए जब मैंने दो-एक कवित्त उद्धव-सम्बन्धी बनाये थे। वे कई मित्रों तथा उस समय के कवियों को रुचिकर प्रतीत हुए। पूज्यपाद स्वर्गीय पिताजी ने भी उन पर प्रसन्नता प्रकट की। इस प्रकार प्रोत्साहित होकर मैंने उद्धव-विषयक ५-७ कवित्त और बनाये और फिर यह विचार किया कि एक उद्धव-शतक की रचना की जाय। इसी विचार से समय-समय पर दो-एक कवित्त उक्त विषय के बनते रहे। संवत् १९७७ के अन्त तक शनैः शनैः उद्धव-विषयक ८०-८५ कवित्त बन गये थे। संवत् १९७८ के आरम्भ में मेरा एक संदूक

हरद्वार में चोरी चला गया, जिसमें अन्यान्य सामग्री के साथ मेरे कवित्तों की एक चौपतिया भी जाती रही। उसमें ५०० के ऊपर कवित्त थे। उन्हीं में उद्धव-शतक के कवित्त भी सम्मिलित थे। उनमें से दो-ढाई सौ कवित्त तो ज्यों-त्यों स्मरण कर-करके दूसरी चौपतिया पर लिख लिये गये, इनमें ४०-५० कवित्त उद्धव-सम्बन्धी भी स्मरण आये, शेष जाते ही रहे। अतः और कवित्तों के साथ-साथ उद्धव के कवित्त भी फिर से मैं शनैः शनैः बनाने लगा। संवत् १९८९ के आरम्भ तक सब मिल-जुलकर सौ से कुछ अधिक कवित्त उद्धव के उपस्थित हो गये। उस समय हमारे कई मित्रों ने विशेषतः प्रयागस्थ रसिकमंडल के सभापति श्री डा० रामप्रसादजी त्रिपाठी तथा उक्त मंडल के उपसभापति श्री पं० रामशंकरजी शुक्ल 'रसाल' ने आग्रह किया कि अब उद्धव-शतक को प्रकाशित करा ही देना चाहिए। अतः इन

महाशयों के अनुरोध से इसको सुप्रसिद्ध इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित करा के पाठकों को भेंट करता हूँ। हाँ, एक यह बात भी कह देना आवश्यक है कि इस पुस्तक में कवित्त उसी क्रम से नहीं रक्खे गये हैं जिस क्रम से वे बने हैं, प्रत्युत वे विषयानुकूल ही एकत्रित किये गये हैं।

शिवाला घाट }
काशी }

निवेदक
जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

——

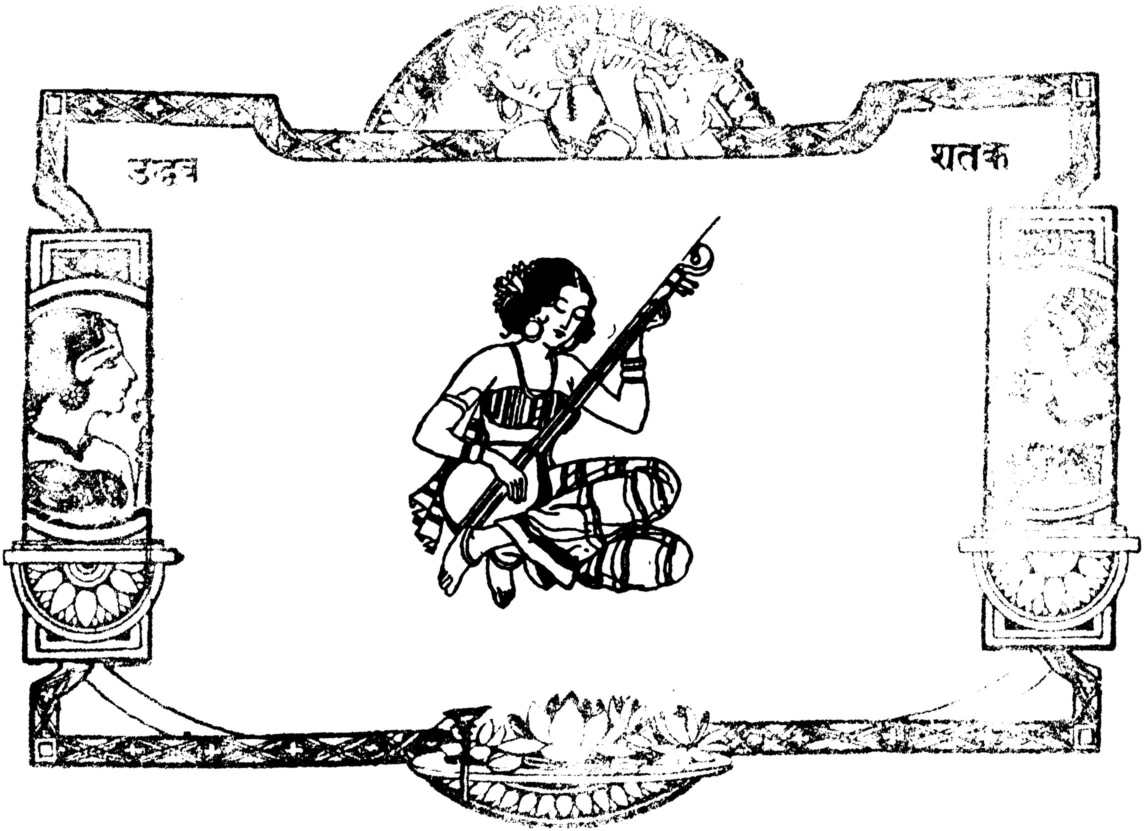
उद्धव
शतक

प्राक्कथन

काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने काव्य की कई परिभाषाएँ दी हैं, जिनमें मत-भेद सा आभाषित होता है। कोई आचार्य्य काव्य की आत्मा को रस के रूप में मानकर काव्य की परिभाषा देते हुए—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" कहता है और कोई काव्य की आत्मा को ध्वनि के रूप में मानता है। इसी प्रकार कोई काव्य में अलंकारों का प्राधान्य दिखलाता है और कोई उस वक्रोक्ति (विच्छित्ति या वैचित्र्य) का जिसमें वैलक्षण्य की विशेषता होती है और जो काव्य की आत्मा है।

पाश्चात्य कवि एवं विद्वान् भी काव्य की कई परिभाषाएँ देते हैं। उनमें भी इस सम्बन्ध में मत-भेद है। अस्तु, कह सकते हैं कि अद्यावधि काव्य की निश्चित रूप से एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं प्राप्त हो सकी, और हमारी समझ में प्राप्त भी नहीं हो सकती, क्योंकि—"भिन्नरुचिर्हि लोकः" उसके मार्ग में एक बहुत बड़ा प्रतिबन्धक है। हम जिसको काव्य मानते हैं, उसमें निम्नांकित लक्षणों का होना आवश्यक या अनिवार्य्य है।

काव्य में—

(१) सुन्दर और मनोरंजक भाव हों।

(२) चमत्कृत शैली से, भावों का वैचित्र्य के साथ सुव्यवस्थित एवं काव्योचित भाषा में अभिव्यंजन हो।

(३) सरसता और कोमलता लिये हुए सुन्दर पदावली हो।

(४) मधुर और मंजुल ऐसा शब्द-संचयन हो, जिसमें सब प्रकार से स्पष्ट सुबोधिता, सार्थकता और स्वाभाविकता हो।

(५) मनोरंजक कल्पना और चित्ताकर्षक चित्रोपमता हो।

(६) स्वाभाविकता के साथ ही साथ मानसिक भावनाओं और मनोवृत्तियों का व्यापक और वास्तविक चारु-चित्रण भी हो।

(७) मानव-जीवन अथवा उसके व्यापारों की विशद व्यञ्जना के साथ ही साथ गूढ़, गम्भीर और उच्च विचारों का भी सामञ्जस्य हो।

(८) वर्णन में यौक्तिक क्रम और सजीव साकारता हो।

(९) मधुर संगीतात्मक छन्द की छटा हो।

जहाँ ये सब लक्षण या गुण अपने सुन्दर रूपों में प्राप्त होते हैं, समझना चाहिए कि वहीं सत्काव्य है। इन लक्षणों को रखते हुए काव्य की जो

परिभाषा बनती है, कदाचित् उसमें कोई भी मत-भेद नहीं हो सकता। हम इसी परिभाषा को मानकर अपने प्रस्तुत काव्य का आलोचन करेंगे और देखेंगे कि इसमें इन सब लक्षणों की सत्ता है या नहीं और यदि है तो कितनी और किस रूप में है।

काव्य की आलोचना—आलोचना शब्द का अर्थ है सब प्रकार देखना। काव्य के आलोचन में काव्य को अच्छी तरह देखना चाहिए। पहले जो लक्षण काव्य के दे दिये गये हैं, उन्हें किसी प्रस्तुत काव्य में खोजकर निकालना चाहिए। यदि वे सब लक्षण उसमें उपस्थित हैं तब उसे काव्य मानकर फिर ध्यान से उसकी सब बातों पर विचार करना चाहिए। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि किसी काव्य में यह देखना कि उसकी भाषा, उसकी शैली, उसकी आन्तरिक विचारावलि अथवा भावमाला, शब्दों के

द्वारा उसकी भावनाओं की अभिव्यञ्जना किस रूप में है, आलोचना करना है। यदि काव्य में सभी गुण उत्कर्ष-रूप में मिलते हैं तो काव्य उच्च कोटि का है और यदि नहीं, तो जिस रूप में उसमें काव्य के गुण विद्यमान हैं, उसी कोटि में उस काव्य की गणना होनी चाहिए।

आज-कल आलोचना की शैली कुछ विचित्र ढंग से चलने लगी है और उसके दो भिन्न मार्ग से हो गये हैं। कुछ लोग तो केवल सद्गुणों पर ही विचार करके प्रशंसात्मक आलोचना करते हैं और कुछ लोग केवल दोषों पर ही दृष्टिपात करके निन्दात्मक कटु प्रलाप को ही आलोचना मानकर चलते हैं। किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सच्ची समालोचना इन दोनों से परे है। उसमें एक प्रकार से ये दोनों ही बातें सन्निहित हैं अर्थात्

उसमें आलोचित काव्य के सद्गुणों का भी प्रदर्शन रहता है और उसके दोष पर भी निष्पक्ष भाव से यथोचित प्रकाश डाला जाता है।

सत्काव्य तो वही है जिसमें दोषों का अभाव और सद्गुणों का प्रत्यक्ष ही पूरा प्रभाव हो। तो भी इस विचार के अनुसार कि भूल करना मानव-स्वभाव है (To err is human) काव्य के कतिपय दोषों को हम छोड़ सकते हैं और उसके गुणों पर ही पूर्ण प्रकाश डाल सकते हैं। कहा भी है "गुणः ग्राह्याः दोषाः क्षम्या" अर्थात् गुण ग्राह्य हैं और दोष क्षम्य हैं।

"संत-हंस गुनपय गहहिं, परिहरि वारि-विकार"

हम इसी आधार पर प्रस्तुत काव्य की मार्मिक और सूक्ष्म आलोचना अपने सुयोग्य और सहृदय पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न करेंगे और अपना मत देकर पाठकों पर ही उसके सदसद होने का निर्णय छोड़ेंगे।

आलोचना की आवश्यकता—हमारे यहाँ प्राचीन काल से यही रीति प्रचलित रही है कि किसी जीवित कवि के काव्य की आलोचना न की जाय, क्योंकि उसका रचना-काल जब तक समाप्त न हो जाय तब तक उसकी प्रतिभा की सीमा का अन्तिम प्रौढ़ रूप अथवा पूर्ण कौशल निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। उसकी प्रतिभा, उसके जीवन-काल में सदैव प्रगतिशील बनी रहती है। इसलिए उसकी किसी एक ही कृति को लेकर उसी से सब निश्चित बातों का निकालना और उसके उत्कर्ष का निर्धारित करना सर्वाङ्गशुद्ध न होगा। किन्तु अब वर्तमान समय में पाश्चात्य बातों के प्रभाव से यह परिपाटी लुप्तप्राय हो गई है, और अब जीवित कवियों की कृतियों पर भी हमारे सुयोग्य समालोचक महोदय प्रकाश डालने लगे हैं। लोगों का विचार है कि ऐसा करने से कवि और उसके काव्य दोनों का हित होता है।

यदि उसकी रचना सत्काव्य है और आलोचना की कसौटी पर कसे जाने से श्लाघनीय होती है, तो कवि अपने सुधामय कीर्ति-फल का आस्वादन कर अपना अभीष्ट आनन्द अपने इसी जीवन में प्राप्त कर लेता है और अपने श्रम को सफल पाकर सिद्धमनोरथ भी हो जाता है। यदि उसका काव्य कुछ दोषमय है और सुयोग्य आलोचकों के द्वारा निष्पक्ष भाव से उसके काव्य-गत दोष सूचित किये गये हैं, तो वह अपना सुधार कर सकता है और आगे अपने काव्य को निर्दोष बनाने का प्रयत्न कर सकता है। लोगों का यह विचार बहुत अंश तक ठीक भी है। प्रस्तुत काव्य के रचयिता हिन्दी-संसार में सुवि-ख्यात स्वनामधन्य श्री बाबू जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' बी० ए० हैं, जिनके विषय में हम ही क्या, लोक-स्वर भी यही कहता है कि हिन्दी-संसार के वे इस वर्तमान समय के अग्रगण्य महाकवि और ब्रजभाषा के प्रधान आचार्य्य हैं।

उद्धव-शतक किस प्रकार का काव्य है ?

आचार्य्यों ने काव्य को कई सिद्धान्तों के आधार पर कई प्रकार से विभक्त किया है। अर्थ के आधार पर काव्य के ध्वन्यात्मक आदि भेद किये गये हैं। ऐन्द्रिक प्रत्यक्षता के आधार पर दृश्य और श्रव्य दो श्रेणियों में काव्य-ग्रन्थों का विभाजन हुआ है और काव्य-वस्तु अथवा विषय के आधार पर काव्य के मुख्य भेद यों किये गये हैं। १—वर्णनात्मक काव्य जिसमें किसी प्राकृतिक अथवा मानव-रचित दृश्य आदि का वर्णन किया जाता है। २—प्रबन्धात्मक अथवा कथात्मक—जिसमें एक आदर्श रखकर किसी कथा के आधार पर एक कथा लिखी जाती है और जिसमें जीवन की घटनाओं का भी अच्छा उल्लेख किया जाता है। ३—मुक्तक

जिसमें प्रायः ऐसे संगीतात्मक छन्द रहते हैं जो स्वतन्त्र रूप से अपने पूर्ण भावों को बिना किसी प्रकार की बाहरी सहायता के व्यक्त करते हैं।

अब यदि हम प्रस्तुत काव्य को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि इसमें **प्रबन्ध काव्य और मुक्तक दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य** है, अर्थात् इसमें एक घटना-विशेष की कथा भी है और साथ ही इसका प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र-सा भी है। नाटक के समान यद्यपि हम इसे दृश्य काव्य नहीं कह सकते, तो भी हम इसे **चित्रोपम** (मूर्त) काव्य अवश्य कह सकते हैं; क्योंकि इसके पढ़ने पर ऐसा ज्ञात होता है मानो कवि किसी चित्र-पट पर चित्र चित्रित कर रहा है, जिसके अनुरूप पढ़ते समय हमारे मस्तिष्क पर भी चित्र खिंचते जाते हैं।

अर्थ-शक्तियों पर विचार करते हुए यदि हम इसे देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों से परिपुष्ट है। इस

प्रकार विचार करके हम कह सकते हैं कि उद्धव-शतक वह चित्रोपम सत्काव्य है जिसमें प्रबन्धात्मक मुक्तक का प्राधान्य है और जिसमें अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों का अच्छा उत्कर्ष मिलता है। सरसता (रसात्मकता), अर्थ गौरव और ललित तथा मृदुल पदावली की मधुरता तो कूट-कूटकर भरी ही हुई है।

अपनी शैली का यह एक अनूठा काव्य है। जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य में दोहा छन्द में शतक या सतसई लिखने की पद्धति हिन्दी-काव्य के माध्यमिक काल में प्रचलित थी, उसी प्रकार यह काव्य भी केवल घनाक्षरी शब्दों में सतसई के समान लिखा गया है अर्थात् इसमें केवल ११६ घनाक्षरियाँ हैं। सतसई में भी पूरे सौ दोहे नहीं हुआ करते, वरन् उनकी संख्या कुछ अधिक रहती है।

चूँकि सतसई दोहा पद्धति के लिए ही रूढ़ि-सी हो गई है, इसीलिए इसका नाम सतसई पर न रक्खा जाकर संस्कृत की शतक शैली के आधार पर 'उद्धव-शतक' रक्खा गया है। इस 'उद्धव' शब्द के द्वारा इस काव्य की वस्तु का परिचय भी प्राप्त हो जाता है।

कथावस्तु—इस काव्य में गोपियों और कृष्ण से सम्बन्ध रखनेवाली उस घटना का चित्रण किया गया है जिससे हिन्दी-जनता भक्त कविवरों की कृपा से भली भाँति परिचित है। इसकी कथा-वस्तु का निष्कर्ष यह है—भगवान् श्रीकृष्ण अपने मित्र ज्ञानी उद्धव को अपना पत्र-वाहक बनाकर (इसी व्याज से) गोपियों के निकट भेजते हैं। 'उद्धव' जी गोकुल में पहुँचकर गोपियों से मिलते हैं और उनसे ज्ञान एवं योग-सम्मत वार्तालाप करते और उन्हें उपदेश देते हैं। गोपियाँ उत्तर में विशुद्ध-प्रगाढ़-प्रेम-पूर्ण हार्दिक

भावों को व्यक्त करती हुई उद्धव की योग-ज्ञान-सम्मत बातों को काट देती हैं और 'उद्धव' को इस प्रकार प्रभावित करती हैं कि वे भी उन्हीं के समान कृष्ण-भक्ति के रंग में रँग जाते हैं। वे वहाँ से आकर कृष्ण के समीप भक्त के ही रूप में गोपियों की दशा एवं उनके सन्देश का कथन करते हैं और उन्हें गोपियों पर कृपा करने की अनुमति देते हैं।

इस प्रकार इसमें केवल एक छोटी सी ही घटना का वर्णन किया गया है और इसी कथा-वस्तु का ऐसा उत्कर्ष दिखलाया गया है कि उससे ज्ञान और योग की अपेक्षा भक्ति और प्रेम की महत्ता अधिक जँचने लगती है। इसी प्रकार यद्यपि नन्ददास आदि दूसरे भक्त कवियों ने भी लिखा है तथापि इसमें किसी प्रकार भी उनका भावापहरण नहीं हो सका वरन् सर्वत्रैव मञ्जुल मौलिकता का ही प्राधान्य तथा प्राबल्य प्राप्त होता है। जैसा हमने पहले

लिखा है, यह प्रबन्ध-काव्य होता हुआ भी मुक्तक काव्य की शैली में लिखा गया है और इसका प्रत्येक कवित्त अपनी स्वतन्त्र सत्ता और, महत्ता रखता है।

एक विशेष बात, जो इसमें और देखने को मिलती है यह है कि इसमें वार्तालाप या कथोपकथन का भी समावेश किया गया है और वह भी छन्दों ही से। अस्तु, कह सकते हैं कि यह छन्दबद्ध कथोपकथन के भी रूप में होकर वार्तात्मक काव्य भी है। सुन्दरता इसमें यह है कि पारस्परिक वार्तालाप का निर्वाह कवित्त जैसे बड़े छन्द में भी सफलता के साथ किया गया है और उसमें सब प्रकार स्वाभाविकता, सरलता और स्पष्टता रक्खी गई है।

कथोपकथन में सर्वत्र यौक्तिक क्रम और सुव्यवस्थित शैली का निर्वाह किया गया है। साथ ही भावनाओं और उनके अनुभावों (उनके प्रभाव से उत्पन्न

होनेवाली आंगिक क्रियाओं) का भी नितांत साकार और स्वाभाविक चित्रण किया गया है जिससे इसमें पूरी सजीवता और चारु चित्रोपमता आ गई है।

——

उद्धव-शतक में दार्शनिक विचार

श्री मद्भागवत ही वह प्रधान ग्रन्थ है जिस पर समस्त कृष्ण-भक्ति का विचित्र एवं पवित्र प्रासाद समाधारित है। जितने भी कृष्ण-भक्त कवि हुए हैं, सभी ने अपनी रचनाओं को इसी महाग्रन्थ पर आधारित रक्खा है, क्योंकि कृष्ण-लीला का यही एक-मात्र प्रशस्त ग्रन्थ है। 'उद्धव' और गोपियों के प्रसङ्ग में ज्ञान-योग तथा प्रेम और भक्ति की जो विवाद-पूर्ण चर्चा

है, उसका भी आधार भागवत है। भागवत में गोपियों के द्वारा प्रेम और भक्ति की ज्ञान और योग के सम्मुख विशेष महत्ता दिखलाई गई है। अस्तु, जितने भी कृष्ण-भक्त कवि हुए हैं सभी ने ऐसा ही किया है। कविवर नन्ददास ने अपने 'भ्रमरगीत' में यह विवाद बहुत सुन्दरता के साथ दिखलाया है। दूसरे सुकवियों ने भी उनका ही-सा अनुकरण किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में भी महाकवि 'रत्नाकर' ने ऐसा ही किया है, किन्तु ऐसी सुन्दरता और मौलिकता के साथ यह विवाद चलाया है कि हमारी समझ में कदाचित् और किसी ने भी ऐसा नहीं कर पाया।

इसी प्रसङ्ग में कवि ने दार्शनिक विचारों का भी सुन्दर समावेश किया है। यद्यपि विचार सभी प्राचीन और चिरप्रसिद्ध हैं, फिर भी उनके संगुम्फन

का ढंग सर्वथा मौलिक और स्तुत्य है। कहीं-कहीं पर तो विचारों में भी नवीनता का अनूठा आभास मिलता है।

प्रथम कृष्ण को 'उद्धव' ज्ञान का उपदेश करते हैं और यह दिखलाते हैं कि यहां—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अथच 'एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति' तथा 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' का सिद्धान्त रक्खो और विचार करो तो तत्त्वज्ञान के साथ ही साथ ब्रह्मज्ञान ही प्रधान है (कवित्त नं० १५)। साथ ही 'उद्धव' दिखलाते हैं कि यह संसार स्वप्नवत् है और इसका सब कारबार भी स्वप्नवत् ही है (कवित्त नं० १६)। कृष्ण इसके उत्तर में और तो कुछ विशेष नहीं कहते, हाँ, इतना अवश्य कहते हैं कि हे उद्धव! तुम जाकर एक बार गोकुल हो आओ, फिर लौटकर हमें यही ज्ञान सिखलाओ तो हम मान लें। 'उद्धव' गोकुल जाते हैं किन्तु मार्ग ही में उनके ज्ञानी और विरागी मानस में एक

दूसरी ही लहर लहरने लगती है। वहाँ उस पर प्रेम और भक्ति की छाई हुई वारिदावली से दूसरी ही सुधा-वृष्टि होने लगती है और उसके प्रभाव से 'उद्धव' के हृत्क्षेत्र में प्रेम और भक्ति के नवीन भावांकुर अंकुरित होने लगते हैं। उनकी ज्ञानगठरी की गाँठ खुल जाती है और उसकी सभी विचार-पूँजी फैलकर कछार के करीलों और तमालों में उलझ जाती है (कवित्त नं० २२)।

गोकुल की गली में पहुँचकर 'उद्धव' की आँखों से प्रेम-वारि बह चलता है, जिससे ज्ञान का मद बह जाता है और उनके ध्यान से योग के विधान भी दूर हो जाते हैं। शरीर पुलकित हो जाता है और ज्ञानार्कालोक से नीरस हुए मानस में सरसता आ चलती है (कवित्त नं० २३)।

'उद्धव' का आगमन सुनकर गोपियाँ आती हैं और प्रेमातुर होकर उनसे

कृष्ण का संदेश पूछती हैं। इस समय प्रेम से गोपियों की जो दशा हो जाती है उसे देखकर ज्ञानी और विरागी 'उद्धव' भी ऐसे हो जाते हैं जैसा कवित्त नं० २८ में 'रत्नाकर' जी ने बड़ी ही मार्मिकता, स्वाभाविकता, मौलिकता और चित्रोपमता से दिखलाया है। 'उद्धव' फिर भी अपने ज्ञान का दिव्यालोक फैलाते हैं। बस, यहीं से दार्शनिक भावों का समावेश हो चलता है। योग के द्वारा अन्तर्दृष्टि करने और हृत्कमल पर जगनेवाली ब्रह्मज्योति में ध्यान लगाने से भगवान् कृष्ण का संयोग प्राप्त होता है। जड़ और चेतन के विलास का विकास उत्पन्न होता है और अपूर्व आनन्द मिलता है। मोह के कारण जिन कृष्ण को गोपियों ने अपने से विलग समझा है, वे निरन्तर ही सबके अन्तर में रहते हैं (कवित्त नं० ३०)। वह सब तो माया का ही प्रपंच है जिसके करण सच्चिदानन्द का वह सत्य सत्त्व, जो पंचतत्त्वनिर्मित इस

संसार में एक-सा है, अपने वास्तविक रूप में नहीं प्रकट होता। सर्वत्र अनेक वस्तुओं के रूपों में वस्तुत: उसी एक ब्रह्म का रूप है, जो भ्रम-पटलोन्मीलित ज्ञानचक्षुओं से गोचरीभूत होता है। ऐसी ही दशा के प्राप्त होने पर (जो योगाभ्यास ही से होती है) कृष्ण सबमें और सब कृष्ण में दिखलाई पड़ते हैं। अनेकत्व में एकत्व (Unity in diversity and diversity iu Unity) का उच्च दार्शनिक सिद्धांत, जो 'उद्धव' जैसे प्रकट ज्ञानी को ही फबता है, कवि ने बड़े ही चातुर्य से काँच के टुकड़ों का दृष्टान्त देकर नं० ३१ के कवित्त में दर्शाया है। 'उद्धव' गोपियों से यों कहते हुए उन्हें योग के द्वारा अन्तर्यामी भगवान् से मिलने का उपदेश देते हैं (कवित्त नं० ३२)। गोपियाँ इसे सुनकर बहुत ही विकल हो जाती हैं। उनकी दशाओं का मार्मिक और

पाठक स्वयं देखें कि गोपियाँ 'उद्धव' को जो उत्तर प्रथम देती हैं, वह सरल और स्वाभाविक-सा होता है हुआ भी ऐसा है कि तुरन्त ही हृदय में पैठ और बैठ जाता है। साधारणतः स्त्रियाँ दर्शन-शास्त्र के अनेकत्व में एकत्व एवं ब्रह्म के विभुत्व आदि को कैसे समझ सकती हैं, न तो उन्होंने कभी इसे पढ़ा ही था और न कभी सुना ही। उनके तो हृदय है जिसमें भावनाओं का प्राधान्य एवं प्राबल्य है। उनके विवेक और ज्ञानपूर्ण मस्तिष्क नहीं। इसी लिए वे ज्ञानज्ञेय का विषय नहीं समझ सकतीं और अपने हृदय की बात पूछती हैं कि प्यारे कृष्ण कब आवेंगे और उन्हें वे कब देखेंगी (कवित्त नं० ३५)। उनका दूसरा प्रश्न है कि कृष्ण वहाँ क्या करते हैं। क्या कभी—"जाय जमुना-तट पै कोऊ बट-छाँहि माँहि पाँसुरी उमाहि कबौं बाँसुरी बजावैं हैं?"

निर्गुणोपासना के, जिसका उपदेश 'उद्धव' ने दिया है, विरोध में स्त्रियाँ अपने स्वाभाविक भावों के अनुसार अनेक बातें कहती हैं और सगुणोपासना की महत्ता को स्थापित करती हुई 'उद्धव' को उपहसित-सा करती हैं। हठ-योग से शरीर में जो रूपान्तर हो जाते हैं, उनको भी गोपियाँ अपनी सौन्दर्य-रक्षा के प्रतिकूल समझकर बुरा बताती हैं और कृष्ण को प्रसन्न करनेवाले अपने शारीरिक सौन्दर्य को नहीं त्यागना चाहतीं।

'उद्धव' ने ब्रह्म को विश्व-व्यापी और अनन्त कहकर योग के द्वारा त्रिपुटी में रख आन्तरिक चक्षुओं से देखने का विधान बताया है। गोपियाँ अपने स्वाभाविक सारल्य से उसे न समझकर असम्भव और सन्दिग्ध मानती हैं। उनका कहना है कि अरूप, अनन्त और अलख विश्व-व्यापी ब्रह्म त्रिपुटी में कैसे देखा जा सकता है (कवित्त नं० ३९)।

अब आगे गोपियाँ शनैः-शनैः अपने मनोरंजक वाक्चातुर्य तथा बुद्धि के चमत्कार का परिचय बड़े कौशल से दे चलती हैं।

वस्तुतः ज्यों-ज्यों वर्तालाप बढ़ता है, त्यों ही त्यों वाणी विशेष खुलती जाती है, और अपना कौशल प्रकट करती हैं, प्रारम्भ में वह सरलता और स्वाभाविकता के ही साथ चलती है। यही बात यहाँ भी मिलती है। गोपियाँ उद्धव से प्रथम तो कुछ स्वाभाविक सरलपने से बातचीत करती हैं; किन्तु जब कुछ देर में वे उनसे हिल-मिल-सी जाती हैं (यह सोचकर कि वे उनके प्रेमी कृष्ण के मित्र हैं) और बातचीत करते हुए उनकी वाणी खुल जाती है तब वे चातुर्य-चमत्कार के साथ अपनी वाकपटुता, हास्य-प्रियता तथा तर्क-कुशलता के द्वारा 'उद्धव' को मुग्ध करने लगती हैं। उनकी इस चातुरी में भी एक विचित्र प्रकार की सरलता, स्वभाविकता तथा स्त्रियोचित अल्पज्ञता की मनोरम माधुरी है।

योग का अर्थ वे संयोग से लेकर उद्धव के विरति-वियोगात्मक योग के विधान को असंगत बताती हैं।

भक्ति-सिद्धांत के अनुसार भक्त अपने इष्टदेव के साहचर्य्य को ही, सर्व-श्रेष्ठ अभीष्ट पदार्थ मानता है। मुक्ति उसके लिए कुछ विशेष महत्ता नहीं रखती, यही भाव गोपियों का भी है।

योग के द्वारा श्वास को अन्दर प्रतिरुद्ध करके, गोपियाँ अपनी वियोगाग्नि को प्रज्वलित नहीं करना चाहतीं, क्योंकि वायु से अग्नि और बढ़ती है, (कवित्त नं० ३६)। क्या ही सुन्दर उक्ति है!

अलख और अरूप ब्रह्म के विरोध में उनका कहना है कि यदि ब्रह्म रूप, रंग और अंग से रहित है (वह अनंग है) तो हम उसकी आराधना नहीं करना चाहतीं, क्योंकि एक ही अनंग (अंगहीन कामदेव) से यह दुर्दशा

हो गई है, दूसरे से न जाने क्या हो (कवित्त नं० ४५)। यहाँ बड़ी ही चातुरी से निराकारता को उपहसित किया गया है।

योगी और वियोगी की तुलना बड़े ही चमत्कृत ढंग से करके गोपियाँ अपने लिए योग की अनावश्यकता दिखलाती हैं। कहीं कहीं आवेश में आकर वे—"चेरी हैं न ऊधो ! काहू ब्रह्म के बाबा की हम" तक कह डालती हैं। कृष्ण-ध्यानानन्द तथा कृष्ण-वियोग के दुःख में गोपियाँ ब्रह्मानन्द से भी अधिक सुख मानती हैं, सच्चे भक्त और प्रेमी का यही आदर्श भी है, (कवित्त नं० ४६)।

'उद्धव' के स्वप्नवत् संसार के विचार को बड़े ही चातुर्य से गोपियों ने 'उद्धव' पर ही घटित करते हुए असिद्ध किया है। इस भाव का ५०वाँ कवित्त वस्तुतः अत्यन्त मौलिक और रोचक है। वस्तुतः गोपियों का यह उत्तर

'उद्धव' को निरुत्तर करने में सर्वथा अलम् जान पड़ता है। यहाँ गोपियों के स्वाभाविक सारल्य और अज्ञान का कैसा सुन्दर नमूना है। परमात्मा में आत्मा को लीन करके अपने अस्तित्व और अपनी स्वतन्त्र सत्ता का नाश करना गोपियाँ आत्म-सम्मानी के लिए अभीष्ट नहीं मानतीं (कवित्त नं० ५१)। ठीक भी यही है।

प्राणायाम के विरोध में गोपियों का भोला-भाला कथन बड़ा ही मनोरंजक है। वे कहती हैं—"एकै बार लैहैं मरि मीच की कृपा सौं हम,
रोकि रोकि साँस बिन मीच मरिबो कहा।"

बिना ब्रह्मज्ञान के गोपदरूपी भवसागर में पड़ने का जो डर 'उद्धव' ने दिखलाया है, गोपियाँ उसे इस आधार पर नहीं मानतीं कि वे मीन के समान गम्भीर प्रणय-रत्नाकर में निमग्न हैं।

"प्रेम रत्नाकर गंभीर परे मीनन को
इहि भव-गोपद की भीत मरिबो कहा।"

"वियोगानल की ज्वाला के सामने ब्रह्म-ज्योति कुछ है ही नहीं" इसी लिए गोपियाँ उसे अपने हृदय में स्थान देने में अपनी असमर्थता प्रकट करती हैं।

"कहै रतनाकर बरी हैं बिरहानल मैं
ब्रह्म की हमारैं जिय जोति जँचि है नहीं।"

नेत्रों के नीर और सीरी सीरी बात (बातें और हवा) से वियोग-ताप-प्रतप्त जिस हृदय को कुछ शीतल किया जा चुका है, उसे फिर ब्रह्म-ज्योति की उष्णता से प्रतप्त करना और जिस हृदय में उन्होंने कृष्ण को स्थान दे रक्खा है, उसी में ब्रह्म को बसाकर विश्वासघात करना गोपियों को इष्ट नहीं (कवित्त नं० ५६)। ठीक भी यही बात है।

गोपियाँ कृष्ण के मिल जाने पर ही योग आदि सब बातों के स्वीकार करने की बात कहती हैं।

उनका कहना है कि हम अपने प्राण-पट पर श्रीकृष्ण के चित्र को चित्रित कर अपने साथ ले जायँगी और ब्रह्म के रूप से उसे मिलायेंगी; यदि वह मिल गया तो बड़ी प्रसन्नता से ब्रह्म से मिल जायँगी, नहीं तो (उसके न मिलने पर) फिर यहीं वापस आयेंगी (कवित्त नं० ६३)।

दृष्टि-कोण के भेद से ही वस्तुओं आदि में भेद दीखने लगता है। इसी से गोपियों का कहना है—

"ऊधौ ब्रह्म ज्ञान कौ बखान करते ना नैकु
देख लेते कान्ह जौ हमारी अँखियान तैं।"

उद्धव के ज्ञानार्क-ताप के प्रसार को देख गोपियाँ तनिक धमकी के साथ कहती हैं कि—

"यह वह सिंधु नाहिं सोखि जो अगस्त्य लियो,
ऊधौ यह गोपिन के प्रेम कौ प्रवाह है ॥"

अब आगे चलकर वे 'उद्धव' पर दोषारोपण भी करती हैं, और बड़ी ही सुन्दरता से उनमें अपने अहित की आशंका करती हैं (कवित्त नं० ६८)।

लोकोक्ति है कि—"जैसे दध्यो दूध को पीवत छाँछहिं फूँकि।"

ठीक यही दशा गोपियों की भी है, क्योंकि अक्रूर ने आकर उनके साथ एक प्रकार से (कृष्ण को ले जाकर) विश्वासघात-सा किया था। इसी लिए अब वे उद्धव का भी विश्वास नहीं करतीं और कहती हैं—

"लै गयौ अक्रूर क्रूर तब सुख-मूर कान्ह,
आये तुम आज प्रान-ब्याज उगहन को।"

सपत्नीक-भाव के उठने पर वे उद्धव को कुब्जा की ओर से आया हुआ समझती हैं और इसी लिए उन पर विश्वास भी नहीं करतीं।

"रसिक सिरोमनि कौ नाम बदनाम करौ
मेरी जान ऊधौ! क्रूर कुब्जा पठाये हौ।"

उद्धव का ज्ञान वस्तुतः गोपियों की अथाह भक्ति में ऐसा लुप्त हो जाता है कि उद्धव बस मंत्र-मुग्ध से ही खड़े रह जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान और योग के ऊपर भक्ति और प्रेम की विजय होती है। भक्तों का सदा ही से यही सिद्धान्त चला आया है—

"गुरु बिनु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।
गावत वेद-पुरान, सो कि होइ हरि-भक्ति बिनु॥"—तुलसी

हमारी समझ में भक्ति और प्रेम के ज्ञान और योग पर विजय पाने का मूल-सिद्धान्त हार्दिक-अनुभूति का बोध-वृत्ति से गुरुतर होना ही है। मानसिक भावनाओं की अनुभूति में मनोवृत्तियों (Feelings) और बोध-वृत्तियों (Cognitive Faculties) दोनों के अंशों का पर्याप्त सामञ्जस्य होता है। भक्ति और प्रेम का इसी से सम्बन्ध है। अतएव इनमें भी इन्हीं दोनों तत्त्वों की समष्टि रहती है। किन्तु बोधवृत्ति में मानसिक भावनाओं की अनुभूति के अंश का होना आवश्यक नहीं। इसी लिए बोधवृत्ति-सम्बन्धी ज्ञान में भी भावनाओं की अनुभूति नहीं रहती, और वह एक-देशीय ही रहता है। योग में तो वृत्तियों का नितान्त निरोध ही होता है:—"योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः।"—योगशास्त्र

इसी लिए मन और मस्तिष्क दोनों के तत्त्वों से निर्मित होनेवाली प्रेम-मयी भक्ति केवल मस्तिष्क-तत्त्व-जन्य ज्ञान और वृत्ति-निरोधोत्पन्न योग से

सर्वथा बलवत्तर ठहरती है। इसी विचार से भागवत आदि भक्ति-प्रधान ग्रन्थों में ज्ञान और योग के मूर्तिमान् उद्धव प्रेममयी भक्ति की मूर्तिमती गोपियों से पराजित से हो जाते हुए दिखलाये गये हैं।

'रत्नाकर' जी ने इस सम्बन्ध में अपने जो मौलिक दार्शनिक विचार, जिनकी ओर हमने उपर संकेत किया है, दिये हैं, वे वस्तुतः हमारी समझ में और किसी भी कवि ने, जिसके द्वारा इस प्रसंग का काव्य रचा गया है, नहीं दिये।

पाठक कवित्त नं० ३७, ३६, ४०, ४२, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४६, ५०, ५१, ५३, ५५, ६३ इत्यादि को, जो उक्त कथन के ज्वलन्त उदाहरण हैं, स्वतः देख और समझ सकते हैं।

दर्शन-शास्त्र के सिद्धान्तों को लौकिक व्यवहार के क्षेत्र में वहीं तक प्रयुक्त किया जा सकता है, जहाँ तक उनमें उपयोगिता और उपयुक्तता का व्यापक

तत्त्व सन्निहित है। यदि उनमें उपयोगिता नहीं तो साधारण प्राणियों के लिए वे एक प्रकार से मूल्य-रहित ही से ठहरते हैं। इसी उपयोगिता-वाद (Utilitarianism) के आधार पर गोपियाँ कहती हैं—

"रावरो अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म,
ऊधौ! कहौ कौन धौं हमारे काम आइहै" ॥

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कोई भी छन्द ऐसा नहीं जो अपनी महत्ता न रखता हो। प्रत्येक छन्द उत्कृष्ट भाव से भरा हुआ है।

बहुज्ञता का आभास

प्राचीन आचार्यों ने कवि का अनेक विषयों से परिचित होना अनिवार्य माना है। 'क्षेमेन्द्र' कवि ने इसे अपने ग्रन्थ में भले प्रकार दिखलाया है। वस्तुतः कवि को बहुविषयज्ञ होना आवश्यक है। जितने ही अधिक विषयों का

ज्ञान उसे होगा उतना ही उसका काव्य उत्कृष्ट, गम्भीर, भावपूर्ण तथा विद्वत्ता-पूर्ण हो सकेगा। इसका यह मतलब नहीं है कि कवि अपनी बहुज्ञता का प्रकाशन अपने काव्य में स्थान-स्थान पर करता ही रहे और इस बात का ध्यान न रक्खे कि कहाँ कैसा प्रसंग है, कैसी परिस्थिति है, कैसी आवश्यकता है और कौन-सा भाव अभिप्रेत है। उसे इन सब बातों पर विचार करके ही अपनी बहुज्ञता को काम में लाना चाहिए। 'रत्नाकर' जी ने इसमें पूर्ण सफलता पाई है और इस छोटे से रत्नागार में भी अपनी बहुज्ञता का प्रकाशन बड़ी चारुता और चतुरता से किया है।

वैद्यक, रसायनशास्त्र, मनोविज्ञान, वेदान्त, तर्कशास्त्र, योगदर्शन और विज्ञान के सिद्धान्तों को लेकर ऐसी सुन्दरता के साथ उन्हें अपने भावों में व्यञ्जक रूप से ऐसा घटित किया है कि उससे काव्य में अनोखा उत्कर्ष और चोखा प्रभाव आ गया है। यह अवश्य है कि ऐसा करने में श्लेषादि अलंकारों

की अच्छी सहायता ली गई है और पाण्डित्य के साथ काव्य-कला-कौशल की चारुता दिखलाई गई है; किन्तु कवि के लिए यह विधान अनिवार्य ही ठहरता है।

वैद्यक में विषम ज्वर (उतर-चढ़कर आनेवाला एक प्रकार का ज्वर और वियोग-ताप) की ओषधि सुदर्शन चूर्ण कही गई है और वैद्यों के मतानुसार नाड़ी से रोग की परीक्षा करके उपचार का विधान बताया गया है। इसी साधारण बात को लेकर 'रत्नाकर' जी ने गोपियों के मुँह से श्लिष्ट शब्दों के द्वारा मर्मस्पर्शिणी व्यञ्जना के साथ कृष्ण के पत्र के सम्बन्ध में कैसा सुन्दर भाव कहलाया है (छन्द नं० ३४)।

वैद्य लोग रसायन-शास्त्र के अनुसार पारे का भस्म तैयार किया करते हैं। 'रत्नाकर'जी ने भी कैसा व्यञ्जनामय भाव रखकर इस रासायनिक प्रक्रिया को घटित किया है और उसी में सोना रखकर एक प्रेम-रसायन

बनाया है। यह साधारण दवा का काम नहीं देता वरन् ऐसी दवा का काम देता है जिससे प्रेमी-हृदय शक्ति पाता है (छन्द नं० १०१)।

उद्धव इसी रसीले रसायन को, जो विरहाग्नि के ताप से हृदयान्तर की आहों में तपाया जाकर विधानपूर्वक ज्ञान-गन्धक आदि से तैयार किया गया है, लेकर मथुरा लौट आते हैं। (छन्द नं० १०४)।

विज्ञान के प्रकाश एवं प्रतिबिम्ब-सम्बन्धी सिद्धान्त को लेकर 'रत्नाकर'जी ने गोपियों के मुँह से कितनी सुन्दर भाव-व्यञ्जना का चित्रण कराया है। वस्तुतः यदि दर्पण के सम्मुख कोई व्यक्ति उसके निकट खड़ा होकर अपने प्रतिबिम्ब को देखे तो उसका प्रतिबिम्ब दर्पण के ऊपरी धरातल पर ही पड़ता हुआ दिखलाई पड़ता है; किन्तु जैसे ही जैसे वह उससे दूर हटता हुआ अपने प्रतिबिम्ब को देखता है वैसे ही उसे वह प्रतिबिम्ब दर्पण के भीतर प्रविष्ट

होता हुआ दिखलाई पड़ता है। इसी को कवि ने गोपियों के मन को दर्पण बनाकर उस पर दूरस्थित श्रीकृष्ण की मूर्ति को मन में और अधिक धँसती हुई दिखलाकर घटित किया है। कितनी सुन्दर भावना है और कितनी सुन्दर कल्पना की व्यंजना है—

"ज्यों ज्यों बसे जात दूरि दूरि प्रिय प्रान-मूरि,
त्यौं त्यौं धसे जात मन-मुकुर हमारे में ॥"

वेदान्त-सम्बन्धी सिद्धान्तों के विषय में पाठक ऊपर पढ़ ही चुके हैं। मनोविज्ञान-विषयक बातें भी इसमें बड़ी ही सुन्दरता के साथ व्यंजित की गई है। गोपियों की प्रेम-पूर्ण भावनाओं का बड़ा ही स्वाभाविक और मर्म-स्पर्शी चित्रण किया गया है। प्रेमोद्वेग से मन और शरीर की जो-जो दशाएँ होती हैं, वे स्थान-स्थान पर बड़ी स्वाभाविकता, स्पष्टता और चित्रोपमता के

साथ मर्मस्पर्शिणी एवं सजीव भाषा में व्यक्त की गई हैं। विस्तार-भय से हम छन्दों की संख्याएँ ही देकर पाठकों से उनके अवलोकन एवं मनन करने का अनुरोध करते हैं।

छन्द नं० २, ३, ४, ७, १२, २०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ६०, ६१, ६४, ६५, ६८, १००, १०२, १०३, १०६, १०८, १०९, १११, ११४।

प्रथम तो हृदय में भावों का उठना ही कठिन होता है और यदि भाव उठें भी तो उनका शब्दों के द्वारा उपयुक्त भाषा में स्वाभाविकता तथा सत्यता के साथ व्यक्त करना और उस पर भी काव्य-कला-कौशल से उन्हें अलंकृत करना और भी कठिनतर कार्य होता है। यदि यह भी हो गया तो कल्पना से प्रसंगानुकूल यथोचित भावनाओं का मार्मिक व्यंजना के साथ सजीव भाषा में साकार खड़ा करना तो कठिनतम ही कार्य होता है। कहना न होगा

कि इन सब बातों में जो सराहनीय सफलता प्राप्त करता है, वही उच्च कोटि के महाकवि की उपाधि के पाने का अधिकारी ठहरता है। इसी कसौटी पर यदि हम इस काव्य को कसकर देखते हैं तो हमारा हृदय निष्पक्ष भाव के साथ मुक्त-कंठ से "धन्य हैं महाकवि रत्नाकर" यही कहता है।

उद्धव के ज्ञानोपदेश तथा योगाभ्यास करने के आदेश को सुनकर गोपियों ने जो उत्तर दिये हैं उनमें 'रत्नाकर' जी ने सरलता, स्वाभाविकता, भोलेपन से मिली हुई अल्पज्ञता के साथ ही साथ ऐसे सुन्दर तर्क का उपयोग किया है कि उसे सुनकर प्रकांड ज्ञानी उद्धव भी निरुत्तर हो जाते हैं। इतना ही नहीं, गोपियों के भोले-भाले उत्तरों से वे सर्वथा प्रभावित भी हो जाते हैं। यहीं पर कवि के चातुर्य्य तथा उसके भाषा-प्रयोग-पटुत्व का पूरा परिचय मिलता है। सीधे-सादे भावों को बड़े ही कौशल के साथ उन्होंने ऐसी सबल और

भावपूर्ण भाषा में रक्खा है कि वे बिना हृदय पर अपना प्रभाव डाले रह ही नहीं सकते। यही तर्क की तरुण शक्ति है।

योग-सम्बन्धी प्राणायाम, समाधि, ध्यान-धारणा आदि की ओर उद्धव के द्वारा संकेत कराते हुए कवि ने अपने योग-विषयक ज्ञान का भी परिचय दिया है, और साथ ही गोपियों के द्वारा इन सबका जैसा अवलोकनीय या पठनीय उपहासात्मक चित्रण कराया है, पाठक उसे छन्द नं० ३८, ३९, ४०, ४५, ४७, ५१, ५३, ५७ आदि में स्वयं देख सकते हैं। उनका हृदय उछल-कर बार बार यही कहेगा : "धन्य हैं 'रत्नाकर' धन्य हैं"।

उद्धव-शतक की भाषा

आज हिन्दी-संसार का कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसे यह न ज्ञात हो कि महाकवि 'रत्नाकर' ब्रज-भाषा के परम प्रेमी और मर्मज्ञ हैं। उन्होंने

आज तक केवल ब्रज-भाषा में ही रचना की है। ब्रज-भाषा के लिए वे बहुत समय तक ब्रज में रहे और ब्रज-भाषा के साहित्य का उन्होंने आद्योपान्त अध्ययन भी किया। आज ब्रज-भाषा और उसके साहित्य में यदि पूर्ण पटुता किसी को प्राप्त है तो वह 'रत्नाकर'जी को ही कही जा सकती है। अस्तु, इस काव्य की भाषा भी शुद्ध ब्रज-भाषा ही है। ब्रज-भाषा को साहित्योचित एकरूपता देने का जो कार्य आचार्य केशव के द्वारा उठाया गया था तथा महाकवि बिहारीलाल के द्वारा आगे बढ़ाया जाकर कविवर घनानंदादि के द्वारा प्रौढ़ किया गया था वही अब 'रत्नाकर' जी के द्वारा पूर्ण किया गया है, अर्थात् 'रत्नाकर' जी ने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में पूर्ण प्रधानता प्राप्त करनेवाली सर्वमान्य ब्रज-भाषा को वह निश्चित एकरूपता दी है, जो साहित्यिक भाषा के लिए, अनिवार्य ही ठहरती है और जिसके ही आधार पर स्थायी साहित्य रचना की जा सकती है।

यद्यपि ब्रजभाषा के अनेक कवि हुए हैं तथापि प्राय: किसी ने भी क्रियाओं और कारकों आदि के रूपों को निश्चित विधान से स्थिरता देने की ओर ध्यान नहीं दिया। इसी लिए एक ही काल की क्रिया के कतिपय रूप पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ पाठक 'देना' क्रिया के सामान्य भूतकालवाले रूप (दीन, दियो, दीन्ह्यो आदि) देख सकते हैं। यद्यपि इस बहुरूपता में भी कुछ उपयोगिता एवं लाभ की मात्रा है तथापि साहित्योचित भाषा की मर्यादा के लिए इससे कुछ हानि भी है। इसी प्रकार कारकों के रूपों में भी बहुरूपता पाई जाती है जो साहित्यिक भाषा के लिए उपयुक्त नहीं ठहरती। इस प्रकार की बातों के साथ ही साथ लिंग-रचना-सम्बन्धी रूपों और विधानों में भी अनेकरूपता का आभास पाया जाता है। शब्दों के शुद्ध उच्चारण (हिज्जे या spelling) और उनके लिखने में भी रूपान्तर देखे जाते हैं। इन्हें एक निश्चित व्यव-

स्यात्मक रीति से निश्चित रूप कर स्थिर करने का कार्य किसी ने भी पूर्ण रूप से न किया था। हाँ, बिहारीलाल और घनानन्द ने इस ओर कुछ स्तुत्य प्रयत्न किया है, किन्तु इसकी पूर्ति वे भी न कर सके। महाकवि 'रत्नाकर' ने इस वर्तमान समय में, जब खड़ी बोली के राज्य में ब्रज-भाषा की मधुर और सुरीली पदावली शुद्ध एवं पूर्ण रूप में सुनाई भी नहीं पड़ती, यह सराहनीय कार्य गौरवपूर्ण सफलता के साथ किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'रत्नाकर' जी के इस काव्य में ब्रज-भाषा का वह शुद्ध रूप मिलता है जिसमें साहित्योचित एकरूपता है।

"कविहिं अरथ-आखर-बल साँचा" के अनुसार कवि के लिए भाषा ही एक सच्चा और स्वाभाविक बल है। कहा जाता है कि काव्य में भाव की ही प्रधानता होनी चाहिए और उसी को ही प्राधान्य दिया जा सकता है।

ठीक है, किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो भाव की अपेक्षा भाषा ही अधिक प्रधानतर ठहरती है। मान लिया कि भाव बहुत उत्तम है; किन्तु यदि उसको व्यक्त करनेवाली भाषा सबल और सजीव नहीं है तो वह उत्तम भाव कवि के हृदय में ही रह जायगा और श्रोताओं तथा पाठकों के लिए अलभ्य ही-सा हो जायगा। यह भी संभव है कि उस भाव के स्थान पर पाठक या श्रोता कोई दूसरा भाव, जो कवि की पदावली से साधारणतया झलकता है, निकाल बैठे। इसी लिए हम समझते हैं कि हमें भाव की अपेक्षा उसको व्यक्त करनेवाली भाषा की ही महत्ता तथा प्रधानता को अधिक मानना चाहिए। वस्तुतः भाव भाषा में ही रहता है। इसलिए यदि कवि भाषा-पटु अथवा मर्मज्ञ है और उसके उपयोग में उसे पूरी कुशलता प्राप्त है, तो वह अपने साधारण भाव को भी अपनी सुन्दर भाषा के द्वारा ऐसे चमत्कृत रूप में रख सकेगा कि पाठक और श्रोता उससे मुग्ध ही हो जायँगे।

यहाँ यह भी कह देना असंगत नहीं है कि काव्य के लिए भाषा को एक विशेष प्रकार से रूपान्तरित करके रक्खा जाता है और इसमें सफलता प्राप्त करनेवाले कवि ही महाकवि ठहरते हैं। तनिक ध्यान देने से ही यह ज्ञात हो जाता है कि वास्तव में कवि और कविता के लिए एक दूसरे ही प्रकार की भाषा समापेक्षित होती है। साधारण गद्य की भाषा में कवि पूर्ण कुशलता और पूर्ण सफलता से सत्यकाव्य की रचना नहीं कर सकता। जो लोग काव्य-रचना के क्षेत्र में कार्य करते हैं और कवि-कर्म की ओर पूर्ण ध्यान देते हैं उन्हें तो इसका अनुभव अति शीघ्र और अवश्य ही हो जाता है। खड़ी बोली के काव्य को यदि आज यथेष्ट सफलता नहीं मिल रही है, तो उसका एक मुख्य कारण यह भी है कि उसका अभी काव्योचित रूप नहीं बन सका और खड़ी बोली के कवि अपने काव्य में उसका उसी रूप में उपयोग करते हैं जो

साधारणतया बोल-चाल और गद्य लिखने में व्यवहृत किया जाता है। हमारे प्राचीन कविवरों ने इस पर पूर्ण विचार करके ब्रज-भाषा को काव्योचित बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है और उसे ऐसा बना दिया है कि वह अपने गुणों से काव्य में बहुत बड़ी सुन्दरता तथा रमणीयता ला उपस्थित करती है। साधारण से साधारण रचना भी ब्रज-भाषा की कमनीय कोमलता, मनमोहिनी मधुरता और मञ्जुलता के प्रभाव से मनोरंजन तथा चारु चोखी लगने लगती है। यदि उसमें अर्थ-गौरव, पदलालित्य और चमत्कृत-चातुर्य्य का भी यथोचित समावेश कर दिया जाय तो यह 'सोना और सुगन्ध' की कहावत को भी चरितार्थ करने लगती है।

भाषा की कसौटी उसकी स्वाभाविक अर्थ-शक्ति ही है, अर्थात् भाषा वही है जो मानसिक भावों एवं भावनाओं को स्वाभाविक यथार्थता और स्पष्टता के साथ सुव्यक्त कर दे। ऐसी ही भाषा के उपयोग से कवि अपने

कर्म्म में सफलता पाता है और उसे इसी लिए अपने भावों को वास्तविक रूप में व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्दों की कठिन चिन्तना और खोज करनी पड़ती है। अपने भावों के अनुकूल उसे शब्द चुन-चुनकर सुव्यवस्था के साथ अपनी पदावली का निर्माण करना और उसके द्वारा अपना भाव-व्यंजक वाक्य-विन्यास बनाना पड़ता है। इसी लिए कहा गया है—

"चरन धरत, चिन्ता करत, चितवत चारिहु ओर।
सुवरन को खोजत फिरत कवि, व्यभिचारी, चोर॥"

इसके साथ ही कवि को अपनी भाषा में मनोरंजकता, सबलता और सजीवता लाते हुए उससे हृदयाकर्षण करने के लिए वाग्वैचित्र्य और कला-कौशल का रंग भी उस पर चढ़ाना पड़ता है, उसे चमत्कृत और सुसज्जित भी करना पड़ता है, तभी कवि मानव-हृदय पर अधिकार कर पाता है।

काव्य की भाषा में इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि वह सब प्रकार व्याकरणानुमोदित, नियम-नियंत्रित, लौकिक-प्रयोगानुकूल, संयत और सुव्यवस्थित रहे। उसमें किसी प्रकार भी शिथिलता, अस्पष्टता और निरर्थकता न हो। उसकी पदावली कसी हुई, भाव-पूर्ण और निर्दोष रहे। ग्रामीण, अप्रयुक्त और व्यर्थ के अशुद्ध शब्द, जिनसे काव्य में अनीप्सित दुरूहतादि के दोष आ जाते हैं, सदैव त्याज्य होने चाहिए। इस प्रकार की भाषा के बिना उत्कृष्ट और स्तुत्य काव्य की सृष्टि कदापि नहीं हो सकती।

कवि को अपनी पदावली में शब्दों का संचयन तथा संगठन ऐसा ही करना चाहिए कि उससे कोई भी शब्द किसी भी प्रकार कहीं से भी, निकाला न जा सके और यदि निकाल दिया जाय तो उससे भाव और भाषा को पूरी क्षति पहुँचे। प्रत्येक शब्द जब तक अपनी अनिवार्य्य सत्ता और यथोचित महत्ता

का रखनेवाला नहीं होता तब तक उसके प्रयोग से अभीष्ट लाभ हो ही नहीं सकता।

शब्द-संगठन के अतिरिक्त काव्य में वाक्य-विन्यास के वैशिष्टय या वैलक्षण्य की भी महती आवश्यकता रहती है। उच्च कोटि के काव्य में तो वाक्य-विन्यास ही को विशेष प्रधानता दी जाती है, और इसी लिए चतुर कवि अपने सत्काव्य में सदा ही ऐसा वाक्य-विन्यास रखते हैं जो सर्वथा सुसंगठित, भावपूर्ण और गम्भीर्य्यमय रहता है, जिससे अभीष्ट भाव-भावनानुभूति की मर्मस्पर्शिणी व्यञ्जना का पूर्ण आभास प्राप्त होता है।

प्रस्तुत काव्य की भाषा पर, इन मुख्य बातों को ध्यान में रखते हुए, जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काव्य की भाषा उक्त सभी गुणों से सर्वथा समलंकृत है। उक्त विशेषताओं के अतिरिक्त इसकी

भाषा में चित्र-चित्रण शक्ति भी अपने बहुत ही सुन्दर रूप में पाई जाती है, क्योंकि इसकी पदावली में समूर्त पदों का भी सुचारु संगुम्फन किया गया है और वाक्य-विन्यास भी इस प्रकार का रक्खा गया है कि उसमें वर्णित वस्तु को सामने चित्रित करके सजीव खड़ा करने की पूरी क्षमता आ गई है ।

सर्वत्र भाषा में सजीवता और साकारता की शालिमा मिलती है । भावव्यञ्जना और मानसिक अनुभूति के साथ ही साथ, कुशल कल्पना भी निखरी और बिखरी हुई पाई जाती है । शब्द-संचयन इतना ऊँचा हुआ है, कि उसमें कहीं भी किसी प्रकार का शैथिल्यादि दोष नहीं मिलता । प्रत्येक शब्द भावपूर्ण, सबल और चरितार्थ ही मिलता है । भावनाओं के प्रकट करने में जिन मार्मिक शब्दों की माला बनाई गई है उन्हें देखकर यही कहना पड़ता है कि कवि ने मानव-प्रकृति और मानव-हृदय की मर्मज्ञता प्राप्त करके बड़ी

हाँ सफलता और श्रम के साथ एक स्तुत्य शब्द-संचयन किया है। ऐसे ही स्थानों में पूर्ण स्वाभाविकता, यथार्थता और सबलता मिलती है, जिससे प्रकाशित की हुई भावनायें सजीव और साकार होकर हृदय में पैठ और बैठ जाती हैं।

एक विशेषता यहाँ पर और यह अवलोकनीय है कि प्रत्येक शब्द अपने सहगामी अन्य शब्दों को पूरा साहाय्य और उत्कर्ष भी देता है। शब्द एक दूसरे से सर्वथा परिपुष्ट होकर भावादि का संवर्द्धन और संविकासन करते हुए चलते हैं। कहने का तात्पर्य्य यह है कि भाषा यहाँ भाव की पूरी सहगामिनी बन रही है और उससे यही प्रकट होता है कि भाषा भाव के अनुसार और भाव भाषा के अनुसार चल रहे हैं। संज्ञाओं और विशेषणों का प्रयोग बहुत ही उचित और मार्मिक हुआ है। भावों के अनुकूल ही संज्ञायें और उनके विशेषण रक्खे गये हैं तथा वे पूर्ण रूप से चरितार्थ भी किये गये हैं।

अब यदि काव्य-भाषा की शास्त्रीय कसौटी पर प्रस्तुत काव्य की भाषा को कसें तो शास्त्रीय पद्धति की आलोचना के रूप में कह सकते हैं कि उसमें भाषा के वे सभी गुण अथवा लक्षण विद्यमान हैं जिनका होना आचार्य्यों ने आवश्यक ठहराया है। प्रसाद और माधुर्य दोनों गुण समस्त काव्य में सर्वत्र पाये जाते हैं। इन्हीं के साथ ही लालित्य की भी पूरी पुट सर्वत्र लगी हुई है। इन गुणों पर कान्ति नामी गुण का कान्तिमय सुन्दर रंग भी चढ़ा दिया गया है। चूँकि यह शृंगार (विप्रलम्भ अथवा वियोग) रस का काव्य है, इसलिए उसके अनुकूल उपनागरिका एवं कोमला वृत्तियों तथा वैदर्भी और पाञ्चाली, नामी रीतियों को ही प्रधानता देते हुए रचना की गई है। स्थानाभाव से हम यहाँ इसकी विशेष विवेचना न करने के लिए बाध्य हैं।

सबसे बड़ी बात जो यहाँ हम देखते हैं यह है कि इस काव्य में कहीं भी

ऐसे किसी भी वर्ण का प्रयोग नहीं किया गया, जो गुरु होकर लघु-रूप में पढ़ा जाय अथवा लघु होकर गुरु रूप में पढ़ा जाय। ऐसा न होने से छन्द की गति अथवा उसके प्रवाह में खटकनेवाली लचक नहीं आती और छन्द की धारा-वाहिकता अविरल रूप में अग्रसर होती चलती है, जिससे छन्द की संगीतात्मक लय बड़ी ही चारुता, सरलता और रोचकता से प्रगतिशील होती जाती है।

यद्यपि छन्दः-शास्त्र में दीर्घ वर्ण को लघु और लघु को दीर्घ मानकर (यथा आवश्यकता) पढ़ने की आज्ञा अथवा स्वतन्त्रता दे दी गई है और कवियों ने इसका उपयोग भी किया है तथापि हम समझते हैं कि कवि की सफ-लता तभी स्तुत्य है जब उसे इस रियायत या कवि-स्वातन्त्र्य का सहारा न लेना पड़े। हिन्दी-साहित्य में बहुत ही कम कवि ऐसी सफलता प्राप्त कर सके हैं।

कुछ लोग कवि के भाषा-पाण्डित्य का अनुमान इस बात से भी करते हैं

कि उसने कितने नवीन और कैसे मार्मिक शब्दों का प्रयोग अपने काव्य में किया है। इसके आधार पर भी यदि हम इस काव्य को जाँचते हैं तो ज्ञात होता है कि कवि ने इसमें भी अच्छी सफलता पाई है। बहुत से ऐसे शब्द हैं। जो भावानुभूति-व्यञ्जक और मुक्तक-परम्परा के लिए नितान्त मौलिक हैं। उदाहरणार्थ ऐसे शब्द लिये जा सकते हैं—

थहिया, अकह, गहबर, सकस्योई, भकुवान इत्यादि।

कहीं-कहीं पर शब्द-युग्मक (एक साथ युग्म बनाकर चलनेवाले शब्द) को तोड़कर रूपान्तर के साथ भी रक्खा गया है। यथा—

"हा ! हा ! इन्हें रोकन कौ टोंक न लगावो"

नोट—साहित्यक ब्रज-भाषा के विकासादि का विशेष विवरण देखिए हमारे "ब्रजभाषा-पीयूष" नामक ग्रन्थ में।

छन्द

यह प्रथम ही कहा जा चुका है कि इस काव्य में केवल घनाक्षरी या कवित्त नामक छन्द का ही प्रयोग किया गया है। मुक्तक काव्य के लिए यह छन्द बहुत ही उपयुक्त समझा गया है और इसी लिए मुक्तक काव्य लिखनेवाले सभी कवियों ने प्रायः इसी छन्द में रचनाएँ की हैं। शृंगार और वीर दोनों रसों के लिए यह अच्छा समझा गया है, क्योंकि तनिक ही लयान्तर से यह दोनों रसों के अनुकूल बन जाता है।

इस छन्द की रचना के विषय में छन्दः-शास्त्र कोई भी व्यापक और निश्चित नियम नहीं देता। हाँ, इतना अवश्य कहता है कि यह वर्णिक वृत्त है; इसमें ८, ८, ८ और ७ के क्रम से १६ और १५ पर विराम या यति देते हुए ३१ वर्ण लिखे जाते हैं और इसकी गति पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यही ज्ञात होता है कि यह

केवल वर्णिक वृत्त ही नहीं है वरन् मात्राओं तथा गुरु-लघु-मूलक गणों के प्रभाव से भी प्रभावित रहता है। इस छन्द की रचना भी भिन्न-भिन्न कवियों ने भिन्न-भिन्न रूपों में की है।

जहाँ तक हम समझते हैं, कवित्त मुख्यतः दो भिन्न प्रकार की गतियों के आधार पर रचा जाता है। एक गति तो ऐसी होती है कि वह अविरल रूप से शब्दों को एक सुसंगठित शृंखला में रखकर एक लम्बी और आबाध लय से चलती है। इस गति के अनुसार कवित्त की रचना प्राचीन कवियों ने बहुत की है। कवित्त की दूसरी गति वह है जिसमें कवित्त की लय कुछ निश्चित अवकाश पर स्वल्प विश्राम के साथ अग्रसर होती है। ऐसा ही कवित्त सर्वथा शुद्ध माना जाना चाहिए जो दोनों गतियों में सुन्दरता और रोचकता के साथ पढ़ा जा सके। इस प्रकार की गतिवाले कवित्त जैसी सफलता के साथ 'पद्माकर' ने लिखे हैं और किसी दूसरे कवि ने नहीं लिखे। इस काव्य में जितने भी

कवित्त हैं, सभी सर्वांग शुद्ध हैं और दोनों गतियों से पढ़े जा सकते हैं। हम कह सकते हैं कि यदि कवित्त लिखने में 'पद्माकर' के अतिरिक्त और किसी ने ऐसी सफलता प्राप्त की है तो वह 'रत्नाकर' ही हैं। अपने समय में तो वे एक ही थे।

काव्य-कौशल

यद्यपि यह एक छोटा-सा ही काव्य है, तथापि यह काव्य-कौशल इतनी प्रचुर मात्रा में है कि इसका यह लघु आकार इसके पाण्डित्य-पूर्ण काव्य-कौशल के कारण और भी स्तुत्य हो जाता है। इतने छोटे से काव्य में इतने कौशल का होना कवि की पाण्डित्य-पूर्ण प्रतिभा का परिचायक है।

यह स्पष्ट ही है कि इस काव्य में विप्रलम्भ शृंगार (करुणा-भक्ति-प्रेम) तथा शान्तरस का प्राधान्य है, भक्ति और प्रेम की, जिन्हें शृंगार के ही अंग मानते हैं महत्ता और सत्ता स्थापित की गई है।

कृष्ण और गोपिकाएँ आलम्बन के रूप में और गोकुल, जो प्रेम-लीलाओं

का मुख्य स्थान है और जहाँ की वायु तथा भूमि आदि प्राकृतिक पदार्थों पर भी कृष्णानुराग का रंग चढ़ा हुआ है, और उद्धव के द्वारा लाई गई प्रेम-पत्रिका उद्दीपन के रूप में लिये जा सकते हैं। प्रेम और भक्ति से परिप्लावित कृष्ण, गोपियों और आगे चलकर भक्ति और प्रेम-रस से सिंचित उद्धव में पुलकावली, अश्रु-प्रवाह, उच्छ्वास, कंठावरोध, प्रस्वेद, वैवर्ण्य, कम्प, शैथिल्य, मोह-प्रमाद आदि अनेक अनुभाव यथोचित रूप से यथास्थान प्रदर्शित किये गये हैं। पूर्व-स्मृति की धारा तो कहीं कहीं पर ओझल-सी होती हुई और कहीं-कहीं पर पूर्ण रूप से प्रकट होकर प्रवाहित होती हुई ज्ञात होती है।

कहीं-कहीं तो अनेक अनुभावों का सुष्ठु संगुम्फन बड़ी ही चातुरी और रुचिरता से किया गया है (देखो छन्द नं० २८, २६, १०२, १०३, १०६, १०८ इत्यादि)।

दीन दसा देखि ब्रज-बालनि की ऊधव कौ,
गरि गौ गुमान ज्ञान-गौरव गुठाने से।

कहै 'रतनाकर' न आए मुख बैन, नैन
नीर भरि ल्याए, भए सकुचि सिहाने से ॥
सूखे से, भ्रमे से, सकबके से, सके से, थके,
भूले से, भ्रमे से, भभरे से, भकुवाने से।
हौले से, हले से, हूल-हूले से, हिये में हाय!
हारे से, हरे से, रहे हेरत, हिराने से ॥

यह एक स्वाभाविक बात है कि जिस समय कोई त्यौहार आता है उस समय सबको, विशेषतया स्त्रियों को, अपने-अपने प्रियजनों का, प्रेम के कारण, बार-बार ध्यान या स्मरण आता है। प्रेमिकाएँ तो अपने प्रेमियों के बिना त्यौहार मानती ही नहीं और यदि मानती भी हैं तो रो-रोकर दुःख के साथ ही। इसी का कैसा सुन्दर वर्णन छन्द नं० ८५, ८६ में किया गया है—

आवत दिवारी बिलखाइ ब्रजवारी कहैं
अब कैं हमारैं गावैं गोधन पुजैहै को।

कहै 'रतनाकर' विविध पकवान चाहि,
चाह सौं सराहि चख चंचल चलैहै को ॥
निपट निहोरि जोरि हाथ निज साथ ऊधौ !
दमकति दिव्य दीपमालिका दिखैहै को ।
कूबरी के कूबर तैं उबरि न पावैं कान्ह,
इन्द्र-कोप लोपक गुबर्धन उठैहै को ॥

शृंगारात्मक मुक्तक काव्य में षड्ऋतु-वर्णन-सम्बन्धी रचना-शैली का प्रचार पहले बहुत रहा है और बहुत से प्राचीन कवियों ने षड्ऋतु लिखा भी है। 'श्री रत्नाकरजी' ने भी इस काव्य में षड्ऋतु के वर्णनवाले छः छन्द दिये हैं। वास्तव में यह षड्ऋतु-वर्णन अपने ढंग का अद्वितीय ही है। छः ऋतुओं के लिए केवल छः छन्द ही लिखे गये हैं, अर्थात् प्रत्येक ऋतु के लिए एक ही छन्द है। विशेषता यहाँ यह है कि प्रत्येक ऋतु में प्रकृति की समस्त

मुख्य बातों तथा दशाओं को वियोग-विह्वल ब्रज पर ही घटित किया गया है। एक ओर तो प्रकृति-चित्रण है और दूसरी ओर वियोग-व्यञ्जना से पूर्ण ब्रज का निरूपण है। समस्त पदावली इसी लिए श्लिष्ट रक्खी गई है। कहीं-कहीं शब्द-युग्मक (मुहावरे के अनुसार साथ चलनेवाले दो शब्द) भी श्लिष्ट रूप में रखकर सार्थक किये गये हैं। यथा—

"काम-विधि बाम की कला मैं मीन-मेष कहा......"

छन्द नं० ८७

भक्त कवियों ने ब्रज को अपने आराध्य या इष्टदेव का लीला-धाम समझकर उसकी भी बड़ी ही मार्मिक प्रशंसा या स्तुति की है। यह एक साधारण-सी बात है कि भक्त और प्रेमी को अपने आराध्य देव तथा प्रेम-पात्र की सभी वस्तुएँ उतनी ही अच्छी लगती हैं और उनमें भी उसका उतना ही अनुराग होता है जितना इष्टदेव या प्रेम-पात्र में। 'रत्नाकरजी' ने भी

इसी के अनुसार ब्रज और बरसाने आदि की व्यञ्जनामयी मार्मिक महत्ता दिखलाई है। उद्धव ब्रज की बड़ाई करते हुए कहते हैं—

"छावते कुटीर कहूँ रम्य जमुना कैं तीर,
गौन रौन-रेती सौं कदापि करते नहीं।
कहै 'रतनाकर' बिहाय प्रेम-गाथा गूढ़,
स्रौन-रसना मैं रस और भरते नहीं॥
गोपी-ग्वाल-बालनि के उमड़त आँसू देखि,
लेखि प्रलयागम हूँ नैकु डरते नहीं।
होतौ चित्त चाव जौ न रावरे चितावन कौ,
तजि ब्रज-गाँव इतै पावँ धरते नहीं॥"

कवि-कल्पना के लिए सबसे बड़ी प्रशंसनीय बात यही है कि वह अपनी प्रतिभा से जिस बात का भी चित्रण करे, उसे स्वाभाविक और सजीव

भिना अनुभूति व्यञ्जना के साथ साकार रूप में सामने खड़ा कर दे। 'रत्नाकर' जी की प्रौढ़ प्रतिभा और कल्पना में यही जादू है। वे परिस्थिति, प्रकृति और हृदय की ऐसी मर्मज्ञता के साथ जाँच करते हैं कि उसमें तनिक भी बल नहीं पड़ने पाता। इसका ज्वलन्त उदाहरण हमें यहाँ उस कवित्त में मिलता है जिसमें उद्धव के मथुरा को प्रयाण करने और यशोदा, राधिका तथा गोपियों के द्वारा कृष्ण के लिए प्रेमोपहार या भेंट देने की बात कही गई है (छन्द नं० ६७)।

धाई जित-तित तैं बिदाई-हेत ऊधव की,
गोपी भरीं आरति सँभारति न साँसुरी।
कहै 'रतनाकर' मयूर-पच्छ कोऊ लिये,
कोऊ गुंज-अंजली उमाहे प्रेम-आँसुरी।

भाव-भरी कोऊ लिये रुचिर सजाव दही,
कोऊ मही मंजु दाबि दलकति पाँसुरी।
पीत पट नंद, जसुमति नवनीत नयौ,
कीरति कुमारी सुरवारी दई बाँसुरी॥

जहाँ गोपियाँ कृष्ण के लिए उद्धव से अपने सन्देश कहती हैं वहाँ जो छन्द लिखे गये हैं वे वस्तुतः साहित्य में बेजोड़ ही से हैं।

कितना अच्छा अभिनय-प्रधान सन्देश और दशा-निवेदन का कैसा चारु-चित्रण मानसिक और शारीरिक अवस्थाओं की पूर्ण सूचना देनेवाली व्यञ्जना के साथ छन्द नं० ६४ में किया गया है। गोपियाँ कहती हैं कि तुम कृष्ण से यही कहना, और ऐसा नाट्य करके हमारी दशा को निवेदन में सजीव और साकार करके प्रत्यक्षीकृत कर देना, पहले तो यही कहना—

"हाल कहा बूझत, बिहाल परी बाल सबै,
बसि दिन द्वैक देखि दृगनि सिधाइयौ।"

यदि—"औसर मिलै औ सर-ताज कछु पूछहिं तौ,
कहियौ कछू न दसा देखी सो दिखाइयौ।"

(क्योंकि ऐसा करने से सब वृत्तान्त उनकी आँखों के सामने साकार खड़ा हो जायगा और उसे देखकर सम्भव है, वे हमारी दशा का अनुमान कर लें और करुणा तथा दया से कुछ पिघल जायँ)

"आह कै, कराहि, नैन नीर अवगाहि, कछू
कहिबै कौं चाहि, हिचकी लै, रहि जाइयौ।"

यही अभिनय करना। किन्तु यदि तुम समझो कि कुछ कहना आवश्यक अथवा अनिवार्य ही है, तो—

"नंद जसुदा औ गाय, गोप, गोपिका की कछू,
बात बृषभान-भौन हूँ की जनि कीजियौ।
(कहै 'रतनाकर' कहति सब हा हा खाइ,
ह्याँ के परपंचनि सौं रंच न पसीजियौ)

क्योंकि ऐसा करने से कृष्ण के—

आँसु भरि ऐहै औ उदास मुख है है हाय!

(जो हम नहीं चाहतीं) इसलिए—

ब्रज-दुख-त्रास की न तातैं साँस लीजियौ।

तो फिर करना क्या? अच्छा, करना बस यही कि—

"नाम कौं बताइ औ जताइ गाम ऊधौ! बस,
स्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियौ।"

यहाँ 'राम-राम' पद कैसा व्यञ्जक है। इसमें वीप्सा अलंकार नहीं, क्योंकि यह शब्द पुनरुक्ति से प्रणामवाची एक विशेष शब्द-युग्म बन जाता है तथा यह भी व्यञ्जित करता है कि वियोग-व्याकुल गोपियों के जीवनावसान की वह घड़ी निकट आ गई है जब राम-राम ही कहना उचित होता है। यह राम-राम अन्तिम प्रणाम का भाव भी झलकाता है। वस्तुतः दोनों ही छन्द अप्रतिम हैं।

कहीं-कहीं 'रत्नाकर' जी ने बिहारी आदि प्राचीन कवियों की भाँति वियोग-ताप का उत्कर्ष अत्युक्ति के साथ चिट्ठी लिखते समय दिखलाया है—

"सूखि जाति स्याही लेखिनी कैं नैंकु डंक लागैं,
अंक लगैं कागद बररि बरि जात है।" (छन्द नं० ६६)

उद्धव के चलते समय उनके पीछे-पीछे भक्ति और प्रेम के वश में होकर, भावनाओं की प्रबल प्रेरणा से बस व्रज के गोप-गोपी ही नहीं चलने लगते, वरन्

"ऊधव के चलत चलावत चली यौं चल,
अचल चले औ अचले हू भए चल से।"

उद्धव चल तो देते हैं परन्तु कुंज, कूल और कालिन्दी की रोदनमयी दशा को देख-देखकर उनकी जो दशा होती है उसका कैसा मर्मस्पर्शी और हृदय-द्रावक चित्रण छन्द नं० १०२ और १०३ में किया गया है।

हृदय तो नहीं चाहता कि हम किसी छन्द-रत्न की प्रतिभा बिना परखे ही छोड़ दें किन्तु स्थानाभाव हमें बार-बार बाध्य करता है। अस्तु, अब हम आगे बढ़ते हैं।

अलंकार—यह तो सभी जानते हैं कि अलंकारों से भाषा चमक उठती है और फिर काव्य भी चमक उठता है। हाँ, अलंकारों का उपयोग किया जाना चाहिए, काव्यमर्मज्ञता, कला-कुशलता और पाण्डित्य-प्रतिभा के साथ

स्वाभाविक भावोत्कर्ष, भावनानुभूति की व्यञ्जना और रसोद्रेक के ही लिए, न कि अलंकारों के उदाहरण-मात्र के लिए। हमारा तो यही विचार है कि अलंकारों के सदुपयोग में 'रत्नाकर' जी को इस काव्य में सर्वथा सराहनीय सफलता मिली है। यदि हम पूर्ण विवेचन के साथ पर्याप्त विस्तार से इस विषय पर प्रकाश डालें तो इस भूमिका का कलेवर बहुत बढ़ जाय, इसलिए स्थाली-पुलाकन्याय का ही आश्रय लेना हम यहाँ समीचीन समझते हैं और अपने रसज्ञ पाठकों के लिए केवल दो ही चार उदाहरण यहाँ उपस्थित करते हैं।

प्रायः लोग यह कहा करते हैं कि ब्रजभाषा के कवि अनुप्रास और यमक आदि अलंकारों के पीछे पड़कर भाव और रस की हत्या कर देते हैं। कहीं-कहीं तो उनका यह कहना किसी-किसी अंश में कुछ ठीक भी उतरता है और इसे हम भी मानते हैं, किन्तु साथ ही हम यह भी कहते हैं कि ब्रज-भाषा के

जितने भी उच्च कोटि के सिद्धहस्त कवि हैं, उनमें यह बात शायद ही कहीं पाई जाती हो। अनुप्रासादि उनके काव्य में सर्वथा स्वाभाविकता और सुन्दरता के साथ आते हुए उनकी भाषा को चमत्कृत ही बनाते हैं। इनके कारण उनकी भाषा में किसी प्रकार भी कृत्रिमता नहीं आने पाती, वरन् ऐसा जान पड़ता है कि उनकी वह सानुप्रासिक भाषा उनके हृदय से उसी प्रकार सजी-सजाई स्वभावतः तथा स्वतः निकलती है। वे अनुप्रासों के लिए दीन होकर कोष के द्वार पर शब्द-रत्न नहीं माँगते फिरते। भाषा पर उनका इतना अच्छा अधिकार हो जाता है कि बस—

"वाग् वश्यैवानुवर्तते"—वाणी उनके वश में होकर पीछे-पीछे चलती है और उनकी इच्छा तथा कल्पना से उत्पन्न होनेवाले भावों को परिपुष्ट और उत्कृष्ट करती हुई व्यक्त करती है। भाषा उनके लिए होती है,

वे भाषा के लिए नहीं होते। यह बात ठीक 'रत्नाकर' जी में भी पाई जाती है।

शब्दालंकारों की कृत्रिमता तो वहीं प्रकट होती है, जहाँ अलंकृत शब्दों की ऐसी योजना की जाती है कि उसमें से शब्दों को हम यथारुचि भाव को बिना बिगाड़े हुए भी निकाल सकते हैं; किन्तु जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ हम कह सकते हैं कि शब्दालंकारों का उपयोग नितांत स्वाभाविक, सार्थक तथा भाव-परिपोषक है। यही बात इस काव्य में पाई जाती है।

जो लोग रीति-ग्रन्थ लिखते हैं और शब्दालंकारों को स्पष्ट करने के लिए उदाहरणात्मक छन्द रचते हैं, उनमें कृत्रिमता अवश्य ही पाई जाती है, और वह वहाँ क्षम्य भी हैं, क्योंकि वहाँ पर केवल काव्य-कला-कौशल के ही प्रकाशन का उद्देश्य प्रधान होता है। प्रस्तुतः काव्य की रचना इस प्रकार की नहीं है। यह तो रस और भाव-प्रधान काव्य है, इसी लिए इसमें छेक, वृत्ति, लाट,

यमक, वीप्सा आदि शब्दालंकार बड़े ही स्वाभाविक तथा भाव-परिपोषक होकर सार्थक रूप से उपयुक्त स्थानों पर ही आये हैं। इन अलंकारों से अलंकृत शब्द या पद इतने आवश्यक, अनिवार्य्य और उपयुक्त भावपूर्ण हैं कि उनको किसी भी प्रकार निकाला नहीं जा सकता अथवा उसके स्थान पर दूसरे शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से भाषा और भाव दोनों ही को गहरी क्षति पहुँच सकती है। चूँकि इसी विचार से शब्दालंकारों का उपयोग यहाँ हुआ है इसी लिए उनका प्रयोग-प्राचुर्य्य और अनावश्यक संयोजन नहीं होने पाया। फिर भी उक्त शब्दालंकारों का सदुपयोग इस काव्य में बहुत ही सराहनीय रूप से किया गया है। ऐसे स्थान भी हैं जहाँ अनुप्रासादि का प्राचुर्य्य भी पाया जाता है किन्तु वहाँ भी स्वाभाविकता, सार्थकता और उपयुक्तता नहीं जाने पाई।

चूँकि अनुप्रासों के उदाहरणार्थ रचना नहीं की गई इसी लिए किसी विशेष छन्द में कोई विशेष अनुप्रास नहीं पाया जाता, वरन् प्रायः प्रत्येक छन्द में शब्दालंकार-संसृष्टि की ही शालिमा विशेष मिलती है। विशेष चातुर्य्य-चमत्कार और कला-कौशल-पूर्ण पांडित्य यहाँ उन स्थानों पर पाया जाता है जहाँ श्लेष, वीप्सा आदि का उपयोग किया गया है। हमारी समझ में इन शब्दालंकारों का सदुपयोग जितना अच्छा यहाँ प्राप्त होता है उतना कदाचित् बहुत ही कम काव्यों में देखा जाता है।

पदावृत्तिमूलक वीप्सा* (जिसमें एक वाक्य की आवृत्ति की जाती है) का कितना सुन्दर उपयोग छन्द नम्बर २६, ६०, ६८ में मिलता है।

---

*देखो अलंकार-पीयूष पूर्वार्द्ध, पृष्ठ २३७।

इनमें से दो स्थानों में तो हम कह सकते हैं कि वीप्सा एक विचित्र ढंग से रक्खी गई है, क्योंकि वहाँ एक ही वाक्य की आवृत्ति यह दिखलाने के लिए की गई है कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति उसी वाक्य का प्रयोग कर रहे हैं न कि एक ही व्यक्ति, जैसा प्रायः वीप्सा में देखा जाता है। यह अवश्य है कि इससे सुनने-वाले पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा एक व्यक्ति के द्वारा वीप्सार्थ में की गई आवृत्ति का पड़ा करता है। शब्द-गत वीप्सा के तो अनेकों उदाहरण यहाँ पाये जाते हैं। इसी प्रकार पुनरुक्ति प्रकाश भी कई स्थलों पर अपने अच्छे रूप में मिलता है।

श्लेष के लिए, जैसा हम पहले लिख चुके हैं, हमारे रसज्ञ पाठक यहाँ षट्ऋतुवर्णन के छः कवित्त देख सकते हैं। इन सबमें श्लेष का ही पूर्ण प्राधान्य है। इनके अतिरिक्त और भी ऐसे कवित्त हैं जिनमें श्लेष से भाव-व्यञ्जना का बहुत बड़ा काम लिया गया है और इसी लिए वे कवित्त चमक उठे हैं।

छन्द नं० ४५ में अनंग शब्द को श्लिष्ट रूप में लेकर अंग-रहित अर्थात् ब्रह्म और मदन दोनों पर चरितार्थ करते हुए गोपियों के द्वारा उद्धवोपदिष्ट अंगहीन ब्रह्म की आराधना का कैसा मञ्जुल, भाव-व्यञ्जक तथा उपहास-मूलक कथन कराया गया है। गोपियाँ कहती हैं—

"एक ही अनंग साधि साध सब पूरीं अब,
और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा।"

बड़ी ही सुन्दर उक्ति है और बड़ा ही सुन्दर तथा प्रभावशाली कथन-चातुर्य्य है।

कहीं कहीं तो 'रत्नाकर' जी ने अपने नाम को भी श्लिष्ट रूप में रक्खा है और ऐसा करते हुए भाव को भी उत्कृष्ट कर दिया है, देखो छन्द नं० १५, ३८, ४२, ६८।

इसी प्रकार पाठक और भी देख सकते हैं। हमारा तो यही विचार है कि 'रत्नाकर' जी को शब्दालंकारों में अप्रतिम सफलता मिली है।

अर्थालंकारों के उपयोग में तो 'रत्नाकर' जी ने बड़े-बड़े कमाल किये हैं; उपमा, रूपक आदि अलंकारों का तो कहना ही क्या है, उन साधारण अलंकारों में भी ऐसी जान डाल दी है और उनका ऐसे स्वाभाविक, सार्थक तथा समीचीन रूप से प्रयोग किया है जैसा कदाचित् और किसी भी कवि ने नहीं किया।

लोकोक्ति अलंकार का प्रयोग प्रायः बहुत ही कम कवियों ने किया है और जिन्होंने किया भी है उन्होंने बहुत ही साधारण रूप में किया है। 'रत्नाकर' जी ने लोकोक्ति का उपयोग बड़ी ही चारुता से करते हुए अपने कवित्त को तो उत्कृष्ट बनाया ही है, कहीं-कहीं लोकोक्तियों को भी उत्कृष्ट कर दिया हैं। छन्द नं० १६ की 'दिपत दिवा कर कौं दीपक दिखावै" कहा" इस

लोकोक्ति को हम 'परिष्कृता लोकोक्ति' कह सकते हैं, क्योंकि इसका साधारण रूप है 'सूर्य को दीपक दिखाना' इसी को परिष्कृत करके यहाँ रक्खा गया है (देखो अलंकार-पीयूष उत्तरार्द्ध, पृष्ठ ६०)। इसी प्रकार छन्द नं० ७८ में देखिए।

लोकोक्तियों के अतिरिक्त 'रत्नाकर' जी ने मुहावरों का भी ऐसा सुन्दर प्रयोग किया है जैसा कदाचित् अन्य कोई भी कवि नहीं कर पाया। पाठक स्वतः देख सकते हैं।

जैसा हम शब्दालंकारों के विषय में कह चुके हैं वैसा ही यहाँ अर्थालंकारों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है, अर्थात् किसी विशेष कवित्त में किसी विशेष अर्थालंकार का ही प्रयोग नहीं किया गया, वरन् प्रायः संकर और संसृष्टि के ही रूप में एक-एक छन्द में कई अर्थालंकार यहाँ दिखाई पड़ते हैं।

रूपक, विरोधाभास, उपमा आदि अलंकारों का प्राधान्य अवश्य पाया

जाता है, क्योंकि यहाँ ऐसे अलंकार हैं जिनसे भाव को उत्कर्ष और रस को सहायता मिलती है। समूर्त अथवा चित्रोपम अलंकारों को विशेष रूप से लिया गया है, क्योंकि इनके काव्य में और ही शोभा आ जाती है। इसी तरह षट्ऋतु-वर्णन में कई-कई अलंकार बड़ी चारुता से लाये गये हैं और इसी लिए प्रत्येक कवित्त की सुन्दरता बढ़ गई है। उदाहरणार्थ लीजिए छन्द नं० ८९, इसमें सांग रूपक, श्लेष और विरोधाभास तीनों का सुन्दर सामंजस्य है। साथ ही सुन्दर भाव-व्यंजना की भी मार्मिक पुट है। इसी प्रकार अन्य कवित्तों में हमारे सुयोग्य पाठक अलंकारों की चारुता देख सकते हैं।

वर्ण-मैत्री एवं शब्द-मैत्री—यहीं पर हम संक्षेप में रचना-सम्बन्धी उन दो गुणों को भी दिखला देना आवश्यक समझते हैं जिनका होना सत्काव्य के लिए अनिवार्य्य है। ये दोनों गुण जब तक कविता में नहीं आते तब तक

उसमें यथोचित सुन्दरता भी नहीं आती। आज-कल देखा जाता है कि कवि लोग इसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया करते, जिसका फल यह होता है कि उनका काव्य प्रायः शिथिल, श्रुतिकटु और शब्द-साम्य-रहित हो जाता है। सत्काव्य-रचना के लिए वर्ण-मैत्री और शब्द-मैत्री दोनों ही की बहुत आवश्यकता है। कह सकते हैं कि ये दोनों शब्दों और वर्णों को तौलने और उनमें समानता दिखलानेवाले तराजू के पल्ले हैं। इन्हीं पर रखकर कवि शब्दों और वर्णों को तौलता और उनका परिणाम देखकर उन्हें चुनता है। यह तो स्पष्ट ही है कि समान मात्रा और परिणामवाले वर्णों और शब्दों के सुव्यवस्थित संगुंफन से ही पदावली रुचिर और रोचक होती है। यदि एक शब्द या वर्ण भारी हों और उसके समीपवर्ती दूसरे शब्द या वर्ण हल्के हों, तो इस प्रकार जो पदावली बनेगी, वह निश्चय ही खटकनेवाली और अरुचिकर होगी।

आवृत्ति-मूलक शब्दालंकार उक्त दोनों गुणों के सहायक या फलरूप में लिये जा सकते हैं। इनके कारण इन दोनों गुणों को उत्कर्ष प्राप्त होता है। कवि-चातुर्य्य यही है कि इन दोनों गुणों का सुन्दर सामञ्जस्य काव्य में हो।

यदि हम प्रस्तुत काव्य को इस विचार से देखें तो ज्ञात होगा कि इसमें इन दोनों गुणों से बनी हुई रचना-तुला पर तौल-तौलकर शब्द रक्खे गये हैं। शब्द-मैत्री और वर्ण-मैत्री के लिए यह आवश्यक है कि समान कोटि के शब्द और वर्ण एक ही साथ बिठाये जायँ। ऐसा करने से ही पदावली में समता आ सकती है और समता ही उसकी रुचिरता का मुख्य कारण है। यहाँ कोई भी कवित्त ऐसा नहीं मिलता जिसमें यह बात न पाई जाती हो। उदाहरणार्थ पाठकों का ध्यान हम निम्नांकित पदों या कवित्तों की ओर आकर्षित

करते हैं, क्योंकि उनमें उक्त दोनों गुण इतने स्पष्ट रूप में मिलते हैं कि पाठक उन्हें तुरन्त ही पहचान सकते हैं—

छन्द	नं०	२८	पंक्ति	तीसरी	और	चौथी
”	”	१५	”	प्रथम		इत्यादि

कवि-उपनाम

मुक्तक काव्य में हिन्दी के प्रायः सभी कवियों ने अपने नामोपनाम अवश्य रक्खे हैं। संस्कृत के महाकाव्य में यह एक नियम सा रक्खा गया है, कि उसमें कवि अपना सूक्ष्म परिचय अवश्य दे दे। यही बात नाटकों के लिए भी रक्खी गई है। किन्तु मुक्तक काव्य के लिए संस्कृत में न तो कोई ऐसा नियम ही रक्खा गया है और न संस्कृत के मुक्तक-काव्यकारों ने कोई परिपाटी बनाते हुए इसका उपयोग ही किया है। हिन्दी में यह प्रथा बहुत प्राचीन

समय से (भक्ति-काल के प्रारम्भ से) बराबर चली आई है और प्रायः सभी कवि इसके अनुसार अपने नामोपनाम अपनी मुक्तक-रचनाओं में अवश्य देते आये हैं।*

'रत्नाकर' जी ने भी इस परम्परागत परिपाटी का अपने इस काव्य में पालन किया है और प्रत्येक छन्द की द्वितीय पंक्ति में "कहै रतनाकर" अवश्य रक्खा है किन्तु छन्द नं० ६, १४, २३, ३४, ४७, ७४, ८५, ८७, ९४ इसके अपवाद हैं अर्थात् इन छन्दों में कवि ने अपना उपनाम कहीं भी नहीं दिया। इसका कारण यही है कि इन छन्दों में भावाधिक्य के कारण कहीं भी इतना स्थान न बचता था कि कवि अपने "कहै रतनाकर" पद को

*देखो हमारा 'मुक्तक काव्य में कवियों के नामोपनाम' शीर्षक लेख—माधुरी, लखनऊ, संवत् १९८७।

सरलता से रख सकता। इससे ज्ञात होता है कि कवि अपना नाम केवल वहीं पर देना चाहता है जहाँ उसे कुछ स्थान भावसूचक शब्दावली के अतिरिक्त बचा हुआ मिलता है।

कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ कवि ने अपने उपनाम को श्लिष्ट मानकर इस प्रकार रक्खा है कि उससे उसके भाव को भी सहायता मिलती है और नाम भी आ जाता है। जैसे छन्द नं० १०, ११, १५, १७, ३८, ४२, ५३, ६८।

शेष सब छन्दों की द्वितीय पंक्ति में ही, जैसा लिखा गया है, पाठकों को "कहै रतनाकर" अवश्य मिलेगा, किन्तु एक प्रकार से निरर्थक अथवा पाद-पूर्ति ही के रूप में। हाँ, इसका यह तात्पर्य अवश्य लिया जा सकता है और लिया भी गया है कि छन्द में नाम इसलिए अवश्य रखना चाहिए जिससे कोई दूसरा व्यक्ति उसे अपना न कह सके और उसमें कवि की छाप सदा के लिए लगी रहे।

रमाशंकर शुक्ल "रसाल" एम० ए०

— —

उद्धव
शतक

उद्धव-शतक

शतक

॥ ओं ॥

श्री गणेशाय नम:

मंगलाचरण

जासौं जाति विषय-विषाद की बिवाई बेगि
चोप-चिकनाई चित चारु गहिबौ करै।
कहै रतनाकर कबित्त-बर-व्यंजन मैं
जासौं स्वाद सौगुनौ रुचिर रहिबौ करै॥
जासौं जोति जागति अनूप मन-मंदिर मैं
जड़ता-विषम-तम-तोम दहिबौ करै।
जयति जसोमदि के लाड़िले गुपाल, जन
रावरी कृपा सौं सो सनेह लहिबौ करै॥

उद्धव शतक

श्री उद्धव को मथुरा से ब्रज भेजते समय के कवित्त

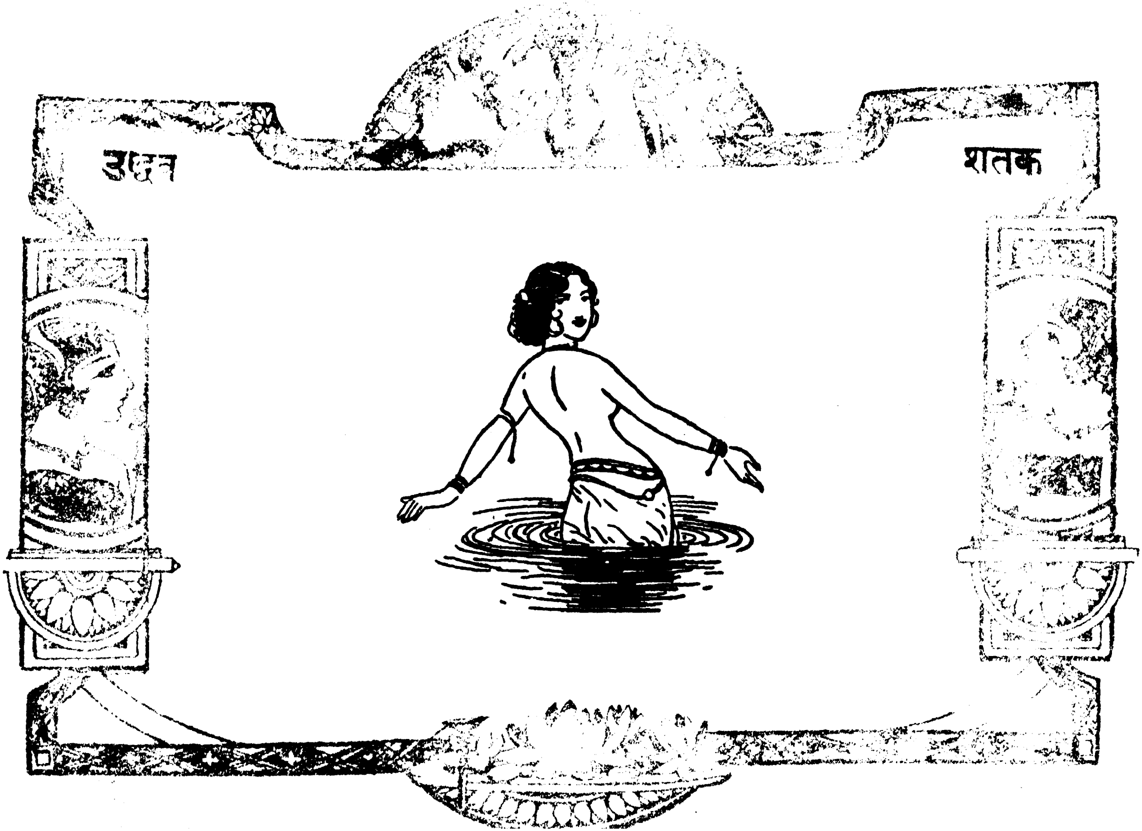
उद्धव
शतक

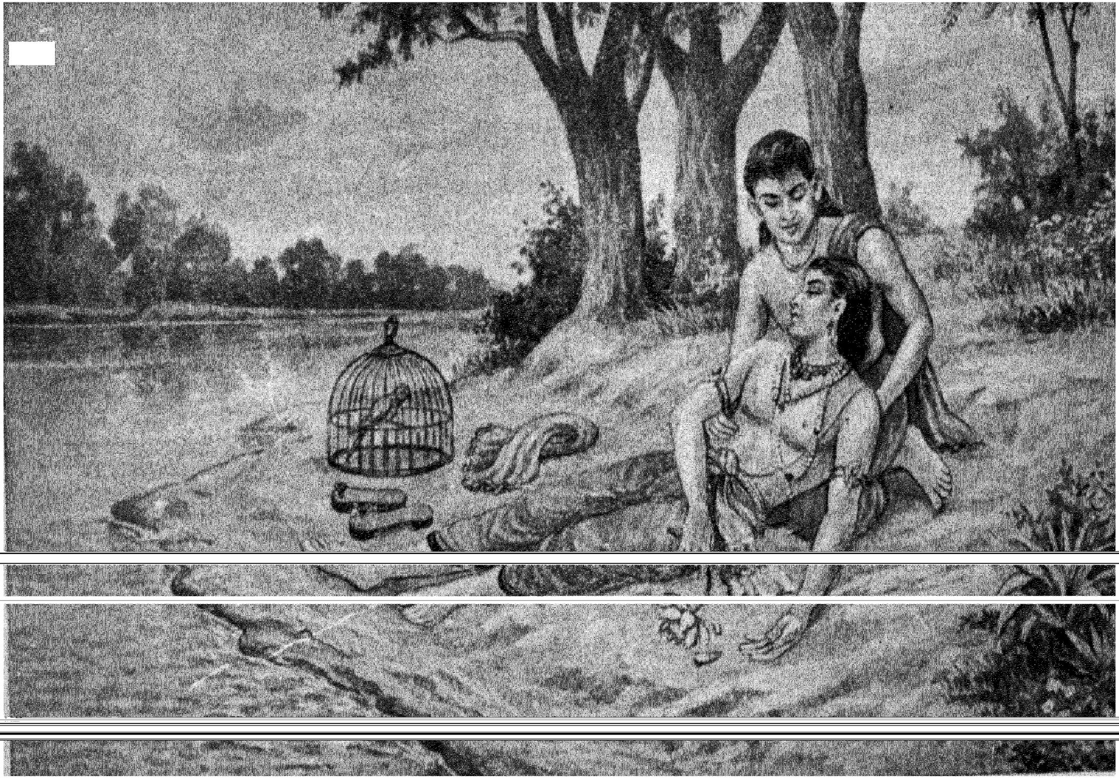

न्हात जमुना मैं जलजात एक देख्यौ जात
जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।
कहै रतनाकर उमहि गहि स्याम ताहि
बास-बासना सौं नैंकु नासिका लगायौ है॥
त्यौंहीं कछु घूमि झूमि बेसुध भए कै हाय
पाय परे उखरि अभाय मुख छायौ है।
पाए घरी द्वैक मैं जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर
राधा-नाम कीर जब औचक सुनायौ है॥

१

आए भुज-बंध दए ऊधव-सखा कैं कंध
डग-मग पाय मग धरत धराए हैं ।
कहै रतनाकर न बूझैं कछु बोलत औ
खोलत न नैन हूँ अचैन चित छाए हैं ॥
पाइ बहे कंज मैं सुगंध राधिका कौ मंजु
ध्याए कदली-बन मतंग लौं मताए हैं ।
कान्ह गए जमुना नहान पै नए सिर सौं
नीकैं तहाँ नेह की नदी मैं न्हाइ आए हैं ॥

२

देखि दूरि ही तैं दौरि पौरि लगि भेंटि ल्याइ
आसन दै साँसनि समेटि सकुचानि तैं ।
कहै रतनाकर यौं गुनन गुबिंद लागे
जौलौं कछू भूले से भ्रमे से अकुलानि तैं ॥
कहा कहैं ऊधौ सौं कहैं हूँ तौ कहाँ लौं कहैं
कैसैं कहैं कहैं पुनि कौन सी उठानि तैं ।
तौलौं अधिकाई तै उमगि कंठ आइ भिँचि
नीर ह्वै बहन लागी बात अँखियानि तैं ॥

विरह-बिथा की कथा अकथ अथाह महा
कहत बनै न जो प्रबीन सुकबीनि सौं।
कहै रतनाकर बुझावन लगे ज्यौं कान्ह
ऊधौ कौं कहन-हेत ब्रज-जुवतीनि सौं॥
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं
प्रेम पर्‌यौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं।
नैंकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं॥

४

नंद औ जसोमति के प्रेम-पगे पालन की
लाड़-भरे लालन की लालच लगावती।
कहै रतनाकर सुधाकर-प्रभा सौं मढ़ी
मंजु मृगनैनिनि के गुन-गन गावती॥
जमुना-कछारनि की रंग-रस-रारनि की
बिपिन-बिहारनि की हौंस हुमसावती।
सुधि ब्रज-बासिनि दिवैया सुख-रासिनि की
ऊधौ नित हमकौं बुलावन कौं आवती॥

चलत न चार्‌यौ भाँति कोटिनि बिचार्‌यौ तऊ
दाबि दाबि हार्‌यौ पै न टार्‌यौ टसकत है ।
परम गहीली बसुदेव-देवकी की मिली
चाह-चिमटी हूँ सौं न खैंचौ खसकत है ।।
कढ़त न क्यौं हूँ हाय बिथके उपाय सबै
धीर-आक-छीर हूँ न धारैं धसकत है ।
ऊधौ ब्रज-बास के बिलासनि कौ ध्यान धँस्यौ
निसि-दिन काँटे लौं करेजैं कसकत है ।।

रूप-रस पीवत अघात ना हुते जो तब
सोई अब आँसू ह्वै उबरि गिरिबौ करैं ।
कहै रतनाकर जुड़ात हुते देखैं जिन्हैं
याद किएँ तिनकौं अँवाँ सौं घिरबौ करैं ॥
दिननि के फेर सौं भयौ है हेर-फेर ऐसौ
जाकौं हेर फेरि हेरिबौई हिरिबौ करैं ।
फिरत हुते जु जिन कुंजन मैं आठौ जाम
नैननि मैं अब सोई कुंज फिरिबौ करैं ॥

गोकुल की गैल-गैल गैल-गैल ग्वालिन की
गोरस कैँ काज लाज-बस कै बहाइबौ।
कहै रतनाकर रिझाइबौ नवेलिनि कौँ
गाइबौ गवाइबौ औ नाचिबौ नचाइबौ ॥
कीबौ स्रमहार मनुहार कै बिबिध बिधि
मोहिनी मृदुल मंजु बाँसुरी बजाइबौ।
ऊधौ सुख-संपति-समाज ब्रज-मंडल के
भूलैँ हूँ न भूलैँ भूलैँ हमकौँ भुलाइबौ ॥

मोर के पखौवनि कौ मुकुट छबीलौ छोरि
क्रीट मनि-मंडित धराइ करिहैं कहा।
कहै रतनाकर त्यौं माखन-सनेही बिनु
षट-रस ब्यंजन चबाइ करिहैं कहा॥
गोपी ग्वाल-बालनि कौं झौंकि बिरहानल मैं
हरि सुर-बृंद की बलाइ करिहैं कहा।
प्यारौ नाम गोबिंद गुपाल कौ बिहाइ हाय
ठाकुर त्रिलोक के कहाइ करिहैं कहा॥
६

कहत गुपाल माल मंजु मनि-पुंजनि की
गुंजनि की माल की मिसाल छबि छावै ना ।
कहै रतनाकर रतन-मैँ किरीट अच्छ
मोर-पच्छ-अच्छ-लच्छ-अंसहू सु-भावै ना ॥
जसुमति मैया की मलैया अरु माखन कौ
काम-धेनु-गोरस हूँ गूढ़ गुन पावै ना ।
गोकुल की रज के कनूका औ तिनूका सम
संपति त्रिलोक की बिलोकन मैँ आवै ना ॥

राधा-मुख-मंजुल-सुधाकर के ध्यान ही सौं
प्रेम-रतनाकर हियैं यौं उमगत है।
त्यौंहीं बिरहातप प्रचंड सौं उमंडि अति
ऊरध उसास कौ झकोर यौं जगत है॥
केवट विचार कौ बिचारौ पचि हारि जात
होत गुन-पाल ततकाल नभ-गात है।
करत गँभीर धीर-लंगर न काज कछू
मन कौ जहाज डगि डूबन लगत है॥

सील-सनी सुरुचि सु-बात चलैं पूरब की
औरै ओप उमगी दृगनि मिदुराने तैं ।
कहै रतनाकर अचानक चमक उठी
उर घनस्याम कैं अधीर अकुलाने तैं ॥
आसाछ्ब दुरदिन दीस्यो सुरपुर माहिं
ब्रज मैं सुदिन बारि-बृंद हरियाने तैं ।
नीर कौ प्रबाह कान्ह-नैननि कैं तीर बाढ्यौ
धीर बाढ्यौ ऊधौ-उर अचल रसाने तैं ॥

१२

प्रेम-भरी कातरता कान्ह की प्रगट होत
ऊधव अवाइ रहे ज्ञान-ध्यान सरके।
कहै रतनाकर धरा कौ धीर धूरि भयौ
भूरि-भीति-भारनि फनिंद-फन करके॥

सुर सुर-राज सुद्ध-स्वारथ-सुभाव-सने
संसय समाए धाए धाम बिधि हर के।
आई फिरि ओप ठाम-ठाम ब्रज-गामनि के
बिरहिनि बामनि के बाम अंग फर के॥

हेत-खेत माहिँ खोदि खाईँ सुद्धस्वारथ की
प्रेम-तृन गोपि राख्यौ तापै गमनौ नहीँ ।
करनी प्रतीत-काज करनी बनावट की
राखी ताहि हेरि हियँ हौंसनि सनौ नहीँ ।।
घात मैँ लगे हैँ ये बिसासी ब्रजबासी सबै
इनके अनोखे छल-छंदनि छनौ नहीँ ।
बारनि कितेक तुम्हैँ बारन कितेक करैँ
बारन-उबारन है बारन बनौ नहीँ ।।

पाँचौ तत्त्व माहिँ एक सत्त्व ही की सत्ता सत्य
याही तत्व-ज्ञान कौ महत्व स्त्रुति गायौ है ।
तुम तौ बिबेक रतनाकर कहौ क्यौँ पुनि
भेद पंचभौतिक के रूप मैँ रचायौ है ॥
गोपिनि मैँ, आप मैँ, बियोग और सँजोग हूँ मैँ
एकै भाव चाहिए सचोप ठहरायौ है ।
आपु ही सौँ आपुकौ मिलाप औ बिछोह कहा
मोह यह मिथ्या सुख-दुख सब ठायौ है ॥

दिपत दिवाकर कौं दीपक दिखावै कहा
तुमसन ज्ञान कहा जानि कहिबौ करैं ।
कहै रतनाकर पै लौकिक-लगाव मानि
मरम अलौकिक की थाह थहिबौ करैं ॥
असत असार या पसार मैं हमारी जान
जन भरमाए सदा ऐसैं रहिबौ करैं ।
जागत औ पागत अनेक परपंचनि मैं
जैसैं सपने मैं अपने कौं लहिबौ करैं ॥

हा ! हा ! इन्हैं रोकन कौं टोक न लगावौ तुम
बिसद-बिबेक-ज्ञान गौरव-दुलारे हैं ।
प्रेम-रत्नाकर कहत इमि ऊधव सौं
थहरि करेजौ थामि परम दुखारे हैं ॥
सीतल करत नैंकु हीतल हमारौ परि
बिषम - बियोग-ताप - समन पुचारे हैं ।
गोपिनि के नैन-नीर ध्यान-नलिका ह्वै धाइ
दृगनि हमारैं आइ छूटत फुहारे हैं ॥

प्रेम-नेम निफल निवारि उर-अंतर तैं
ब्रह्म-ज्ञान आनँद-निधान भरि लैहैं हम ।
कहै रतनाकर सुधाकर - मुखीनि - ध्यान
आँसुनि सौं धोइ जोति जोइ जरि लैहैं हम ॥
आवो एक बार धारि गोकुल-गली की धूरि
तब इहिँ नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम ।
मन सौं, करेजे सौं, स्रवन-सिर-आँखिनि सौं
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लैहैं हम ॥

बात चलैं जिनकी उड़ात धीर धूरि भयौ
ऊधौ मंत्र फूँकन चले हैं तिन्हैं ज्ञानी है।
कहै रतनाकर गुपाल के हिये मैं उठी
हूक मूक भायनि की अकह कहानी है॥
गद्गद कंठ है न कढ़न सँदेश पायौ
नैन-मग तौलौं आनि बैन अगवानी है।
प्राकृत प्रभाव सौं पलट मनमानी पाइ
पानी आज सकल सँवारयौ काज बानी है॥

ऊधव कैं चलत गुपाल उर माहिँ चल
आतुरी मची सो परै कहि न कबीनि सौं।
कहै रतनाकर हियो हूँ चलिबे कौं संग
लाख अभिलाष लै उमहि बिकलीनि सौं॥
आनि हिचकी ह्वै गरैं बीच सकस्यौई परै
स्वेद ह्वै रस्यौई परै रोम-झँझरीनि सौं।
आनन-दुवार तैं उसाँस ह्वै बढ्यौई परै
आँस ह्वै कढ्यौई परै नैन-खिरकीनि सौं॥

——

श्री उद्धव के मथुरा से ब्रज जाते समय के मार्ग के कवित्त

उद्धव शतक

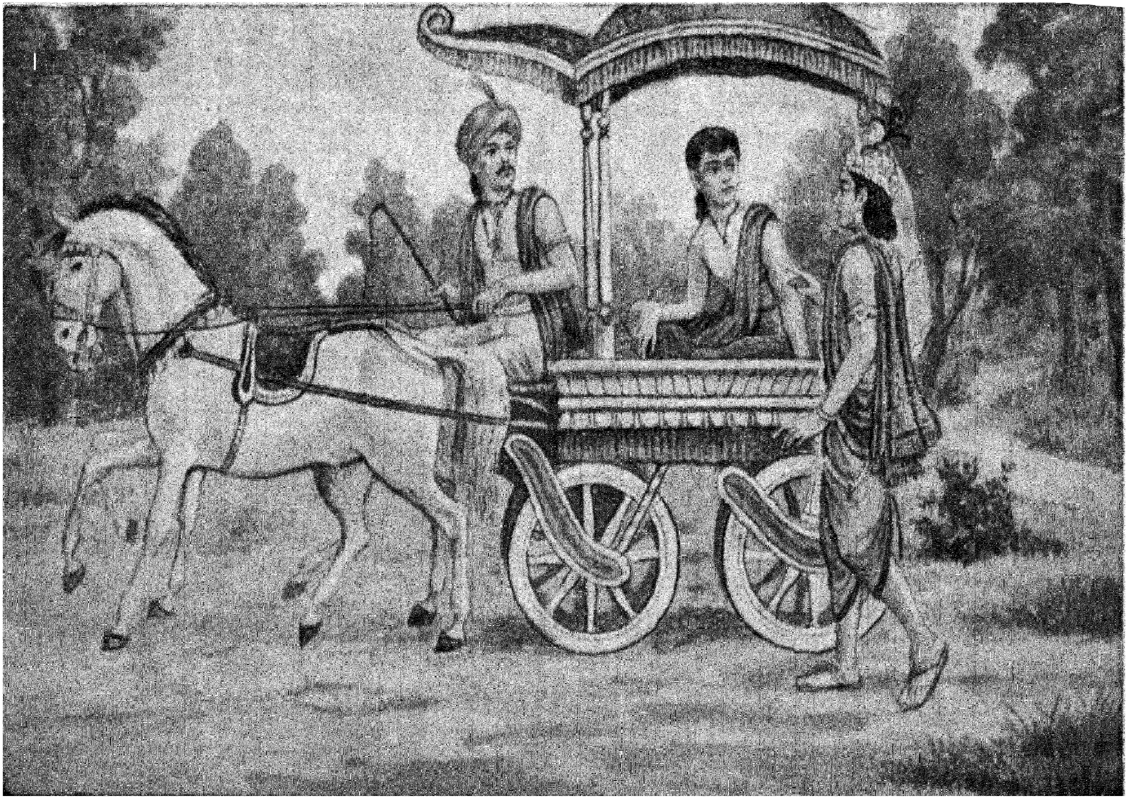

आइ ब्रज-पथ रथ ऊधौ कौं चढ़ाइ कान्ह
अकथ कथानि की ब्यथा सौं अकुलात हैं ।
कहै रतनाकर बुझाइ कछु रोकैं पाय
पुनि कछु ध्याइ उर धाइ उरझात हैं ॥
रससि उसाँसनि सौं बहि-बहि आँसुनि सौं
भूरि भरे हिय के हुलास न उरात हैं ।
सीरे तपे विविध सँदेसनि बातनि की
घातनि की झोंक मैं लगेई चले जात हैं ॥

२३

लै कै उपदेस-औ-सँदेस-पन ऊधौ चले
सुजस - कमाइबै उछाह - उदगार मैं ।
कहै रतनाकर निहारि कान्ह कातर पै
आतुर भए यौं रह्यौ मन न सँभार मैं ॥
ज्ञान-गठरी को गाँठि छरकि न जान्यो कब
हरैं-हरैं पूँजी सब सरकि कछार मैं ।
डार मैं तमालनि की कछु बिरमानी अरु
कछु अरुझानी है करीरनि के झार मैं ॥

२४

उद्धव शतक

हरैं-हरैं ज्ञान के गुमान घटि जानि लगे
जोग के विधान ध्यान हूँ तैं टरिबै लगे।
नैननि मैं नीर रोम सकल शरीर छयौ
प्रेम-अद्‌भुत-सुख सूझि परिबै लगे ॥
गोकुल के गाँव की गली मैं पग पारत हीं
भूमि कैं प्रभाव भाव औरै भरिबै लगे।
ज्ञान-मारतंड के सुखाए मनु मानस कौं
सरस सुहाये घनस्याम करिबै लगे ॥

—

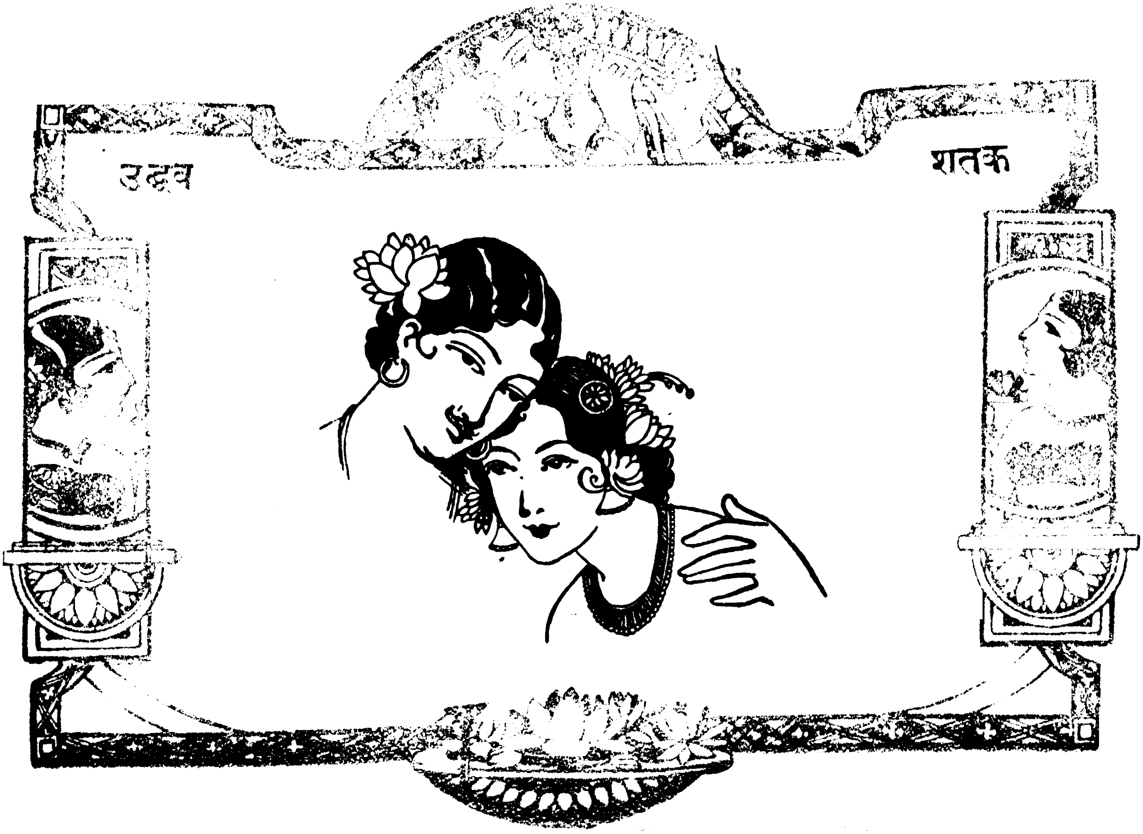
उद्धव
शतक

उद्धव शतक

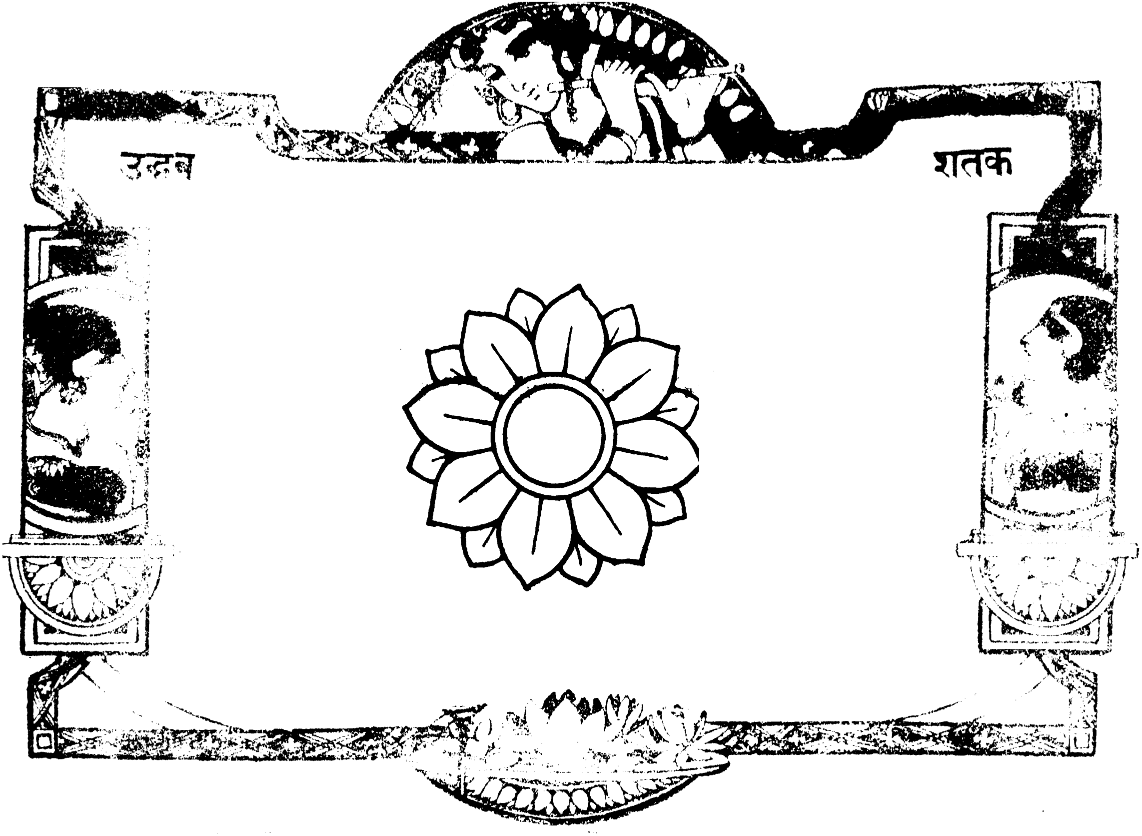

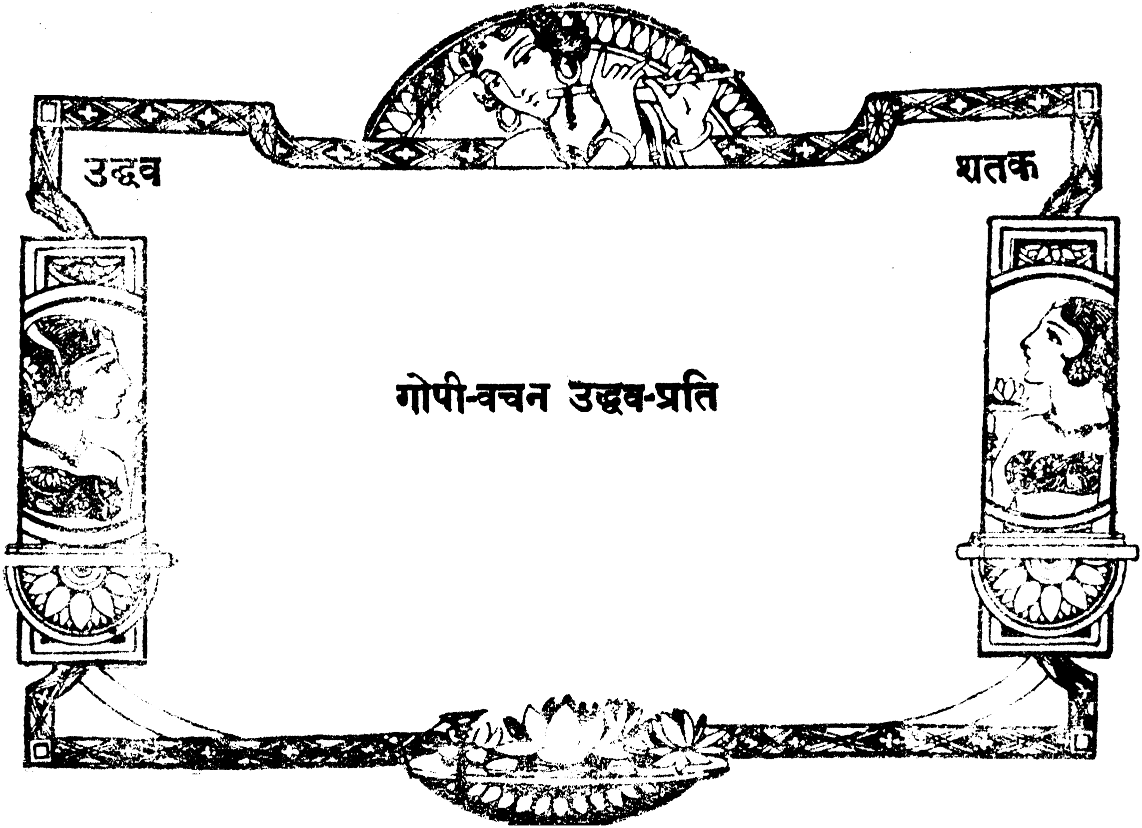

गोपी-वचन उद्धव-प्रति

सुनि सुनि ऊधव की अकह कहानी कान
कोऊ थहरानी, कोऊ थानहिँ थिरानी हैँ ।
कहै रतनाकर रिसानी, बररानी कोऊ
कोऊ बिलखानी, बिकलानी, बिथकानी हैँ ।
कोऊ सेद-सानी, कोऊ भरि दृग-पानी रहीँ
कोऊ घूमि-घूमि परीँ भूमि मुरझानी हैँ ।
कोऊ स्याम-स्याम कै बहकि बिललानी कोऊ
कोमल करेजौ थामि सहमि सुखानी हैँ ॥

सोई कान्ह सोई तुम सोई सबही हैं लखौ
घट-घट-अंतर अनंत स्यामघन कौं।
कहै रतनाकर न भेद-भावना सौं भरौ
बारिधि औ बूँद के बिचारि बिछुरन कौं ॥
अविचल चाहत मिलाप तौ बिलाप त्यागि
जोग-जुगती करि जुगावौ ज्ञान-धन कौं।
जीव आतमा कौं परमातमा मैं लीन करौ
छीन करौ तन कौं न दीन करौ मन कौं ॥

पंच तत्व मैं जो सच्चिदानँद की सत्ता सो तौ
हम तुम उनमैं समान ही समोई है।
कहै रतनाकर बिभूति पंच-भूत हू की
एक ही सी सकल प्रभूतनि मैं पोई है॥
माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै
काँच-फलकनि ज्यौं अनेक एक सोई है।
देखौ भ्रम-पटल उघारि ज्ञान-आँखिनि सौं
कान्ह सब ही मैं कान्ह ही मैं सब कोई है॥

चाहत जौ स्वबस सँजोग स्याम-सुन्दर कौ
जोग के प्रयोग मैं हियौ तौ बिलस्यौ रहै ।
कहै रतनाकर सु-अंतर-मुखी है ध्यान
मंजु हिय-कंज-जगी जोति मैं धस्यौ रहै ॥
ऐसैं करौं लीन आतमा कौं परमातमा मैं
जामैं जड़-चेतन-बिलास बिकस्यौ रहै ।
मोह-बस जोहत बिछोह जिय जाकौ छोहि
सो तौ सब अंतर-निरंतर बस्यौ रहै ॥

३७

उद्धव शतक

श्री उद्धव-वचन ब्रजवासियों से

मोह-तम-रासि नासिबे कौं स-हुलास चले
करौ प्रकास पारि अति रति-माती पर।
कहै रतनाकर पै सुधि उधिरानी सबै
धूरि परी धीर जोग-जुगति सँघाती पर॥
चलत विषम ताती बात ब्रज-बारिनि की
विपति महान परी ज्ञान-वारी बाती पर।
लच्छ दुरे सकल बिलोकत अलच्छ रहैं
एक हाथ पाती एक हाथ दिये छाती पर॥

दीन दसा देखि ब्रज-बालनि की ऊधव कौ
गरि गौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से ।

कहै रतनाकर न आए मुख बैन नैन
नीर भरि ल्याए भए सकुचि सिहाने से ।।

सूखे से स्रमे से, सकबके से सके से थके
भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से ।

हौले से हले से हूल-हूले से हिये मैं हाय
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से ।।

देखि-देखि आतुरी बिकल ब्रज-बारिन की
ऊधव की चातुरी सकल बहि जाति हैं।
कहै रतनाकर कुसल कहि पूछि रहे
अपर सनेस की न बातैं कहि जाति हैं॥
मौन रसना है जोग जदपि जनायौ सबै
तदपि निरास-बासना न गहि जाति हैं।
साहस कै कछुक उमाहि पूछिबैं कौं ठाहि
चाहि उत गोपिका कराहि रहि जाति हैं॥

भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की
सुधि ब्रज-गाँवनि मैं पावन जबै लगीं ।
कहै रतनाकर गुवालिनि की झौरि-झौरि
दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन तबै लगीं ॥
उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं ।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं ॥

धाईं धाम-धाम तैं अवाई सुनि ऊधव की
बाम-बाम लाख अभिलाषनि सौं भ्वै रहीं ।
कहै रतनाकर पै बिकल बिलोकि तिन्हैं
सकल करेजौ थामि आपुनपौ ख्वै रहीं ॥
लेखि निज-भाग-लेख रेख तिन आनन की
जानन कौ ताहि आतुरी सौं मन म्वै रहीं ।
आँस रोकि साँस रोकि पूछन-हुलास रोकि
मूरति निरास की सी आस-भरी ज्वै रहीं ॥

दुख सुख ग्रीषम औ सिसिर न ब्यापै जिन्हैं
छापै छाप एकै हिये ब्रह्म-ज्ञान-साने मैं ।
कहै रतनाकर गँभीर सोई ऊधव कौं
धीर उघरान्यौ आनि ब्रज के सिवाने मैं ॥
औरै मुख-रंग भयौ सिथिलित अंग भयौ
बैन दबि दंग भयौ गर गरुवाने मैं ।
पुलकि पसीजि पास चाँपि मुरझाने काँपि
जानैं कौन बहति बयारि बरसाने मैं ॥

२६

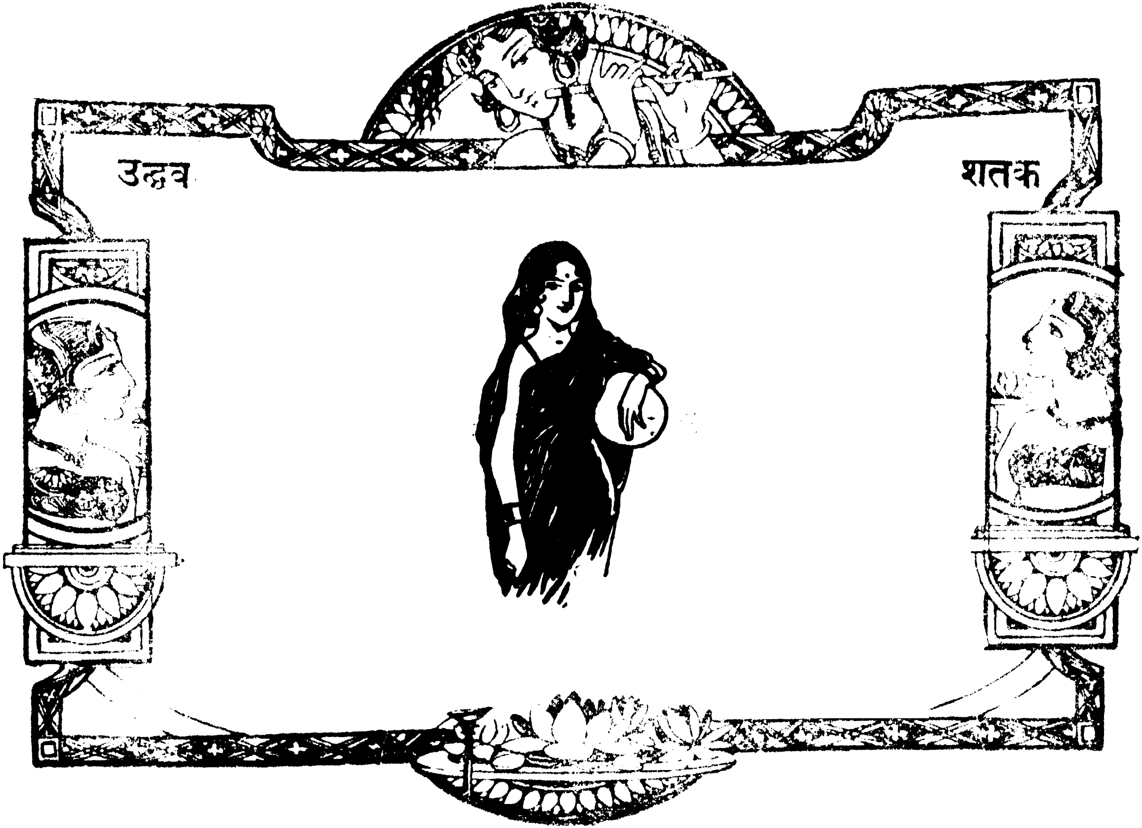
उद्धव
शतक

श्री उद्धव के ब्रज में पहुँचने के समय के कवित्त

फा० ६

रस के प्रयोगनि के सुखद सु जोगनि के
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन
देत ना सुदर्शन हूँ यौं सुधि सिराई हैं॥
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि कौ
भाय क्यौं अनारिनि कौ भरत कन्हाई हैं।
ह्याँ तौ विषमज्वर-वियोग की चढ़ाई यह
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं॥

ऊधौ कहौ सूधौ सौ सनेस पहिलैं तौ यह
प्यारे परदेस तैं कबै धौं पग पारिहैं ।
कहै रतनाकर तिहारी परि बातनि मैं
मीड़ि हम कबलौं करेजौ मन मारिहैं ।।
लाइ-लाइ पाती छाती कब लौं सिरैहैं हाय
धरि-धरि ध्यान धीर कब लगि धारिहैं ।
बैननि उचारिहैं उराहनौ कबै धौं सबै
स्याम कौ सलोनौ रूप नैननि निहारिहैं ।।

४४

षटरस-व्यंजन तौ रञ्जन सदा ही करैं
ऊधौ नवनीत हूँ स-प्रीति कहूँ पावैं हैं ।
कहै रतनाकर बिरद तौ बखानैं सबै
साँची कहौ केते कहि लालन लड़ावैं हैं ॥
रतन-सिँहासन बिराजि पाकसासन लौं
जग-चहुँ-पासनि तौ सासन चलावैं हैं ।
जाइ जमुना-तट पै कोऊ बट-छाहिँ माहिँ
पाँसुरी उमाहि कबौं बाँसुरी बजावैं हैं ॥

कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप
धारे प्रन फेरन को मति ब्रजबारी की।
कहै रतनाकर पै प्रीति-रीति जानत ना
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की॥
मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम
तौहूँ हमैं भावति ना भावना अन्यारी की।
जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की॥

चोप करि चंदन चढ़ायौ जिन अंगनि पै
तिनपै बजाइ तूरि धूरि दरिबौ कहौ ।
रस-रतनाकर स-नेह निरवार्‌यौ जाहि
ता कच कौं हाय जटा-जूट बरिबौ कहौ ॥
चंद अरबिंद लौं सराह्यौ ब्रजचंद जाहि
ता मुख कौं काकचंश्ववत करिबौ कहौ ।
छेदि-छेदि छाती छलनी कै बैन-बाननि सौं
तामैं पुनि ताइ धीर-नीर धरिबौ कहौ ॥

चिंता-मनि मंजुल पँवारि धूरि-धारनि मैं
काँच-मन-मुकुर सुधारि रखिबौ कहौ।
कहै रतनाकर बियोग-आगि सारन कौं
ऊधौ हाय हमकौं बयारि भखिबौ कहौ॥
रूप-रस-हीन जाहि निपट निरूपि चुके
ताकौ रूप ध्याइबौ औ रस चखिबौ कहौ।
एते बड़े बिस्व माहिँ हेरैं हूँ न पैयै जाहि,
ताहि त्रिकुटी मैं नैन मूँदि लखिबौ कहौ॥

आए हो सिखावन कौं जोग मथुरा तैं तौपै
ऊधौ ये बियोग के बचन बतरावौ ना।
कहै रतनाकर दया करि दरस दीन्यौ
दुख दुरिबै कौं, तौपै अधिक बढ़ावौ ना॥
टूक-टूक ह्वैहै मन-मुकुर हमारौ हाय
चूकि हूँ कठोर-बैन पाहन चलावौ ना।
एक मनमोहन तौ बसिकै उजार्‌यौ मोहिं
हिय मैं अनेक मनमोहन बसावौ ना॥

उद्धव शतक

चुप रहौ ऊधौ सूधौ पथ मथुरा कौ गहौ
कहौ न कहानी जौ बिबिध कहि आए हौ।
कहै रतनाकर न बूझिहैं बुझाऐं हम
करत उपाय बृथा भारी भरमाए हौ॥
सरल स्वभाव मृदु जानि परौ ऊपर तैं
पर उर घाय करि लौन सौ लगाए हौ।
रावरी सुधाई मैं भरी है कुटिलाई कूटि
बात की मिठाई मैं लुनाई लाइ ल्याए हौ॥ ५०

नेम ब्रत संजम के पींजरें परे को जब
लाज-कुल-कानि-प्रतिबंधहिं निवारि चुकीं ।
कौन गुन गौरव कौ लंगर लगावै जब
सुधि बुधि ही कौ भार टेक करि टारि चुकीं ॥
जोग-रतनाकर मैं साँस घूँटि बूड़ै कौन
ऊधौ हम सूधौ यह बानक बिचारि चुकीं ।
मुक्ति-मुकता कौ मोल माल ही कहा है जब
मोहन लला पै मन-मानिक ही वारि चुकीं ॥

ल्याए लादि बादि हीं लगावन हमारे गरैं
हम सब जानी कहौ सुजस-कहानी ना ।
कहै रतनाकर गुनाकर गुबिंद हूँ कैं
गुननि अनंत बेधि सिमिटि समानी ना ॥
हाथ बिन मोल हूँ बिकी न मग हूँ मैं कहूँ
तापै बटमार-टोल लोल हूँ लुभानी ना ।
केती मिली मुकति बधू बर कै कूबर मैं
ऊबर भई जो मधुपुर मैं समानी ना ॥

हम परतच्छ मै प्रमान अनुमाने नाहि
तुम भ्रम-भौंर मैं भलैं ही बहिबौ करौ।
कहै रतनाकर गुबिंद-ध्यान धारैं हम
तुम मनमानौ ससा-सिंग गहिबौ करौ॥
देखति सो मानति हैं सूधौ न्याव जानति हैं
ऊधौ! तुम देखि हूँ अदेख रहिबौ करौ।
लखि ब्रज-भूप-रूप अलख अरूप ब्रह्म
हम न कहैंगी तुम लाख कहिबौ करौ॥

रंग-रूप-रहित लखात सबही हैं हमैं
वैसो एक और ध्याइ धीर धरिहैं कहा ।
कहै रतनाकर जरी हैं बिरहानल मैं
और अब जोति कौं जगाइ जरिहैं कहा ॥
राखौ धरि ऊधौ उतै अलख अरूप ब्रह्म
तासौं काज कठिन हमारे सरिहैं कहा ।
एक ही अनंग साधि साध सब पूरीं अब
और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा ॥

भारतीय साहित्य में प्रेम और काम में अंतर नहीं है

कर-बिनु कैसैं गाँय दूहिहै हमारी वह
पद-बिनु कैसैं नाचि थिरकि रिझाइहै।
कहै रतनाकर बदन-बिनु कैसैं चाखि
माखन बजाइ बेनु गोधन गवाइहै।।
देखि सुनि कैसैं दृग स्रवन बिनाहीं हाय
भोरे ब्रजबासिनि की बिपति बराइहै।
रावरौ अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म
ऊधौ कहौ कौन धौं हमारैं काम आइहै।।

वे तौ बस बसन रँगावैं मन रंगत ये
भसम रमावैं वे ये आपुहीं भसम हैं ।
साँस-साँस माहिं बहु बासर बितावत वे
इनकैं प्रतेक साँस जात ज्यौं जनम हैं ॥
हैं कै जग-भुक्ति सौं बिरक्त, मुक्ति चाहत वे,
जानत ये भुक्ति मुक्ति दोऊ बिष-सम हैं ।
करिकै बिचार ऊधौ सूधौ मन माहिं लखौ
जोगी सौं बियोग-भोग-भोगी कहा कम हैं ॥

जोग को रमावै औ समाधि को जगावै इहाँ
दुख-सुख साधनि सौं निपट निबेरी हैं।
कहै रतनाकर न जानैं क्यौं इतै धौं आइ
साँसनि की सासना की बासना बखेरी हैं॥
हम जमराज की धरावतिं जमा न कछु
सुर-पति-संपति की चाहतिं न ढेरी हैं।
चेरी हैं न ऊधो! काहू ब्रह्म के बबा की हम
सूधौ कहे देतिं एक कान्ह की कमेरी हैं॥

सरग न चाहैं अपबरग न चाहैं सुनो
भुक्ति-मुक्ति दोऊ सौं बिरक्ति उर आनैं हम।
कहै रतनाकर तिहारे जोग-रोग माहिं
तन मन साँसनि की साँसति प्रमानैं हम॥
एक ब्रजचंद कृपा-मंद-मुसकानि हीं मैं
लोक परलोक कौ अनंद जिय जानैं हम।
जाके या बियोग-दुख हूँ सुख मैं ऐसौ कछू
जाहि पाइ ब्रह्म-सुख हू मैं दुख मानैं हम॥

जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हैं
तातैं तुम ऊधौ हमैं सोवत लखात हौ ।
कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत की,
जोई मुँह आवत सो बिबस बयात हौ ॥
सोवत मैं जागत लखत अपने कौं जिमि
त्यौं ही तुम आपहीं सुज्ञानी समुझात हौ ।
जोग-जोग कबहूँ न जानैं कहा जोहि जकौ
ब्रह्म-ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ ॥

ऊधौ यह ज्ञान कौ बखान सब बाद हमैं
सूधौ बाद छाँड़ि बकबादहिं बढ़ावै कौन ।
कहै रतनाकर बिलाय ब्रह्म काय माहिं
आपने सौं आपुनौ आपुनौ नसावै कौन ।।
काहू तौ जनम मैं मिलैंगौ स्यामसुन्दर कौं
याहू आस प्रानायाम-साँस मैं उड़ावै कौन ।
परि कै तिहारी ज्योति-ज्वाल की जगाजग मैं
फेरि जग जाइबै की जुगती जरावै कौन ।।

वाही मुख मंजुल की चहति मरीचैं सदा
हमकौं तिहारी ब्रह्म-ज्योति करिबौ कहा।
कहै रतनाकर सुधाकर-उपासिनि कौं
भानु की प्रभानि कैं जुहारि जरिबौ कहा।।
भोगि रहीं बिरचे बिरंचि के सँजोग सबै
ताके सोग सारन कौं जोग चरिबौ कहा।
जब ब्रजचंद कौ चकोर चित चारु भयौ
बिरह-चिँगारिनि सौं फेरि डरिबौ कहा।।

ऊधौ जम-जातना की बात न चलावौ नैंकु
अब दुख सुख कौ बिबेक करिबौ कहा।
प्रेम-रतनाकर-गँभीर-परे मीननि कौं
इहिं भव-गोपद की भीति भरिबौ कहा॥
एकै बार लैहैं मरि मीच की कृपा सौं हम
रोकि-रोकि साँस बिनु मीच मरिबौ कहा।
छिन जिन झेली कान्ह-बिरह-बलाय तिन्हैं
नरक-निकाय की धरक धरिबौ कहा॥

जोगिनि की भोगिनि की बिकल बियोगिनि की
जग मैं न जागती जमातैं रहि जाइँगी ।
कहै रतनाकर न सुख के रहे जो दिन
तौ ये दुख-द्वंद की न रातैं रहि जाइँगी ॥
प्रेम-नेम छाँड़ि ज्ञान-छेम जो बतावत सो
भीति ही नहीं तौ कहा छातैं रहि जाइँगी ।
घातैं रहि जाइँगी न कान्ह की कृपा तैं इती
ऊधौ कहिबे कौं बस बातैं रहि जाइँगी ॥

कठिन करेजौ जो न करक्यौ वियोग होत
तापर तिहारौ जंत्र मंत्र खँचिहै नहीँ ।
कहै रतनाकर बरी है विरहानल मैं
ब्रह्म की हमारैं जिय जोति जँचिहै नहीँ ॥
ऊधौ ज्ञान-भान की प्रभानि ब्रजचंद बिना
चहकि चकोर चित चोपि नचिहै नहीँ ।
स्याम-रंग-राँचे हिय हम ग्वारिनि कैं
जोग की भगौँहीँ भेष-रेख रँचिहै नहीँ ॥

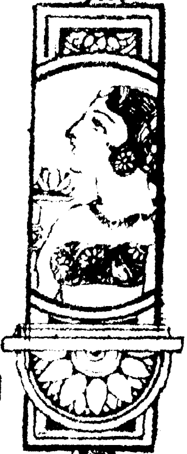

नैननि के नीर औ उसीर सौं पुलकावलि

जाहि करि सीरी सीरी बातहिं बिलासैं हम।

कहै रतनाकर तपाई बिरहातप की

आवन न देति जामैं बिषम उसासैं हम ॥

सोई-मन-मन्दिर तपावन के काज आज

रावरे कहे तैं ब्रह्म-जोति लै प्रकासैं हम।

नंद के कुमार सुकुमार कौं बसाइ यामैं

ऊधौ अब आइ कै बिसास उदवासैं हम ॥

जोहैं अभिराम स्याम चित की चमक ही मैं
　　　　और कहा ब्रह्म की जगाइ जोति जोहैं गी।
कहै रतनाकर तिहारी बात ही सौं रुकी
　　　　साँस की न साँसति कै औरौ अवरोहैं गी॥
आपुही भई हैं मृगछाला ब्रज-बाला सूखि
　　　　तिनपै अपर मृगछाला कहा सोहैं गी।
ऊधौ मुक्ति-माल बृथा मढ़त हमारे गरैं
　　　　कान्ह बिना तासौं कहौ काकौ मन मोहैं गी॥

६६

कीजै ज्ञान भानु कौ प्रकास गिरि-सृंगनि पै
ब्रज मैं तिहारी कला नैंकु खटिहैं नहीं ।
कहै रतनाकर न प्रेम-तरु पैहै सूखि
याकी डार-पात तृन-तूल घटिहैं नहीं ॥
रसना हमारी चारु चातकी बनी है ऊधौ
पी-पी की बिहाइ और रट रटिहैं नहीं ।
लौटि-पौटि बात कौ बवंडर बनावत क्यौं
हिय तैं हमारे घनस्याम हटिहैं नहीं ॥

नैननि के आगैं नित नाचत गुपाल रहैं ।
ख्याल रहैं सोई जो अनन्य-रसवारे हैं ।
कहै रतनाकर सो भावना भरीयै रहै
जाके चाव भाव रचैं उर मैं अखारे हैं ।।
ब्रह्म हूँ भए पै नारि ऐसियै बनी जौ रहैं
तौ तौ सहैं सीस सबै बैन जो तिहारे हैं ।
यह अभिमान तौ गवैं हैं-ना गये हूँ प्रान
हम उनकी हैं वह प्रीतम हमारे हैं ।।

सुनी गुनी समझी तिहारी चतुराई जिती
कान्ह की पढ़ाई कविताई कुबरी की हैं ।
कहै रतनाकर त्रिकाल हू त्रिलोक हू मैं
आनैं मन नैंकु ना त्रिदेव की कही की हैं ॥
कहहिं प्रतीति प्रीति नीति हूँ त्रिबाचा बाँधि
ऊधौ साँच मन की हिये की अरजी की हैं ।
वै तौ हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही और
हम उनही की उनही की उनही की हैं ॥

नेम ब्रत संजम के आसन अखंड लाइ
साँसनि कौं घूँटिहैं जहाँ लौं गिलि जाइगौ।
कहै रतनाकर धरैंगी मृगछाला अरु
धूरि हूँ दरैंगी जऊ अंग छिलि जाइगौ॥
पाँच आँचि हूँ की झार झेलिहैं निहारि जाहि
रावरौ हू कठिन करेजौ हिलि जाइगौ।
सहिहैं तिहारे कहैं साँसति सबै पै बस
एती कहि देहु कै कन्हैया मिलि जाइगौ॥

साधि लैहैं जोग के जटिल जे बिधान ऊधौ
बाँधि लैहैं लंकनि लपेटि मृगछाला हू ।
कहै रतनाकर सु मेलि लैहैं छार अंग
झेलि लैहैं ललकि घनेरे घाम पाला हू ।।
तुम तौ कही औ अनकही कहि लीनी सबै
अब जौ कहौ तौ कहैं कछु ब्रज-बाला हू ।
ब्रह्म मिलिबै तै कहा मिलबै बतावौ हमैं
ताकौ फल जब लौं मिलै ना नन्दलाला हू ।।

साधिहैं समाधि औ अराधिहैं सबै जो कहौ
आधि-ब्याधि सकल स-साध सही लैहैं हम ।
कहै रतनाकर पै प्रेम-प्रन-पालन कौ
नेम यह निपट सछेम निरबैहैं हम ।।
जैहैं प्रान-पट लै सरूप मनमोहन कौ
तातैं ब्रज रावरे अनूप कौं मिलैहैं हम ।
जौपै मिल्यो तौ तौ धाइ चाय सौं मिलैंगी पर
जौ न मिल्यौ तौ पुनि इहाँ ही लौटि ऐहैं हम ।।

कान्ह हूँ सौं आन ही बिधान करिबे कौं ब्रह्म
मधुपुरियान की चपल कँखियाँ चहैं ।
कहै रतनाकर हँसैं कै कहौ रोवैं अब
गगन-अथाह-थाह लेन मखियाँ चहैं ॥
अगुन-सगुन-फंद-बन्द निरवारन कौं
धारन कौं न्याय की नुकीली नखियाँ चहैं ।
मोर-पँखियाँ कौ मौर-वारौ चारु चाहन कौं
ऊधौ अँखियाँ चहैं न मोर-पँखियाँ चहैं ॥

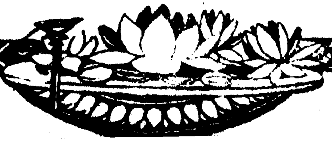

ढाँग जात्यौ ढरकि परकि डर सोग जात्यौ
जोग जात्यौ सरकि स-कंप कँखियानि तैं ।
कहै रतनाकर न लेखते प्रपंच ऐंठि
बैठि धरा लेखते कहूँधौं नखियानि तैं ॥
रहते अदेख नाहिं बेष वह देखत हूँ
देखत हमारी जान मोर पँखियानि तैं ।
ऊधौ ब्रह्म-ज्ञान कौ बखान करते न नैंकु
देख लेते कान्ह जौ हमारी अँखियानि तैं ॥

चाव सौं चले हौ जोग-चरचा चलाइबै कौं
चपल चितौनि तैं चुचात चित-चाह है।
कहै रतनाकर पै पार ना बसैहै कछू
हेरत हिरैहै भर्‌यौ जो उर उछाह है॥
अंडे लौं टिटेहरी के जैहै जू बिबेक बहि
फेरि लहिबे कौ ताके तनक न राह है।
यह वह सिंधु नाहिं सोखि जो अगस्त लियौ
ऊधौ यह गोपिनि के प्रेम कौ प्रवाह है॥

उद्धव शतक

धरि राखौ ज्ञान गुन गौरव गुमान गोइ
गोपिन कौं आवत न भावत भड़ंग है।
कहै रतनाकर करत टायँ-टायँ बृथा
सुनत न कोउ इहाँ यह मुहचंग है॥
और हूँ उपाय केते सहज सुढङ्ग ऊधौ
साँस रोकिबै कौं कहा जोग ही कुढङ्ग है।
कुटिल कटारी है अटारी है उतङ्ग अति
जमुना-तरङ्ग है तिहारौ सतसङ्ग है॥

प्रथम भुराइ चाय-नाय पै चढ़ाइ नीकैं
न्यारी करी कान्ह कुल-कूल हितकारी तैं ।
प्रेम-रतनाकर की तरल तरंग पारि
पलटि पराने पुनि मन-पतवारी तैं ।।
और न प्रकार अब पार लहिबै कौ कछु
अटकि रही हैं एक आस गुनवारी तैं ।
सोऊ तुम आइ बात विषम चलाइ हाय
काटन चहत जोग-कठिन कुठारी तैं ।।

प्रेम-पाल पलटि उलटि पतवारी-पति
केवट परान्यौ कूब-तूँबरी अधार लै।
कहै रतनाकर पठायौ तुम्हैं तापै पुनि
लादन कौं जोग कौ अपार अति भार लै॥
निरगुन ब्रह्म कहौ रावरौ बनैहै कहा
ऐहै कछु काम हूँ न लंगर लगार लै।
विषम चलावौ ज्ञान-तपन-तपी ना बात
पारी कान्ह तरनी हमारी मँझधार लै॥

प्रथम भुराइ प्रेम-पाठनि पढ़ाइ उन
तन मन कीन्हें विरहागि के तपेला हैं ।
कहै रतनाकर त्यौं आप अब तापै आइ
साँसनि की साँसति के झारत झमेला हैं ॥
ऐसे-ऐसे सुभ उपदेस के दिवैयनि की
ऊधौ ब्रजदेस मैं अपेल रेल-रेला हैं ।
वे तौ भए जोगी जाइ पाइ कूबरी कौ जोग
आप कहैं उनके गुरु हैं किधौं चेला हैं ॥

उद्धव शतक

एते दूरि देसनि सौं सखनि-संदेसनि सौं
लखन चहैं जो दसा दुसह हमारी है।
कहै रतनाकर पै बिषम बियोग-बिथा
सबद-बिहीन भावना की भाववारी है।।
आनैं उर अंतर प्रतीति यह तातैं हम
रीति नीति निपट भुजंगनि की न्यारी है।
आँखिनि तैं एक तौ सुभाव सुनिबै कौ लियौ
काननि तैं एक देखिबै की टेक धारी है।।

८०

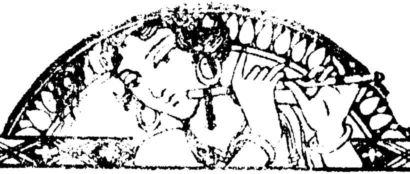

दौनाचल कौ ना यह छटक्यौ कनूका जाहि
छाइ छिगुनी पै छेम-छत्र छिति छायौ है।
कहै रतनाकर न कूबर-बधू-बर कौ
जाहि रंचै राँचै पानि, परसि गँवायौ है ॥
यह गरु प्रेमाचल दृढ़-व्रत-धारिनि-कौ
जाकैं भार भाव उनहूँ कौ सकुचायौ है।
जानै कहा जानि कै अजान है सुजान कान्ह
ताहि तुम्हैं बात सौं उड़ावन पठायौ है ॥

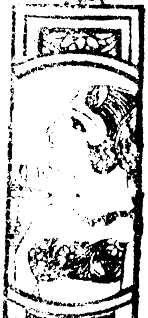

सुधि बुधि जाति उड़ी जिनकी उसाँसनि सौं
तिनकौं पठायौ कहा धीर धरि पाती पर ।
कहै रतनाकर त्यौं बिरह-बलाय छाइ
मुहर लगाइ गए सुख-थिर-थाती पर ॥
और जो कियौ सो कियौ ऊधौ पै न कोऊ बियौ
ऐसी घात घूनी करै जनम-सँघाती पर ।
कूबरी की पीठ तैं उतारि भार भारी तुम्हें
भेज्यौ ताहि थापन हमारी छीन छाती पर ॥

सुघर सलोने स्यामसुंदर सुजान कान्ह
करुना-निधान के बसीठ बनि आए हौ ।
प्रेम-प्रनधारी गिरधारी को सनेसौ नाहिँ
होत है अँदेस झूठ बोलत बनाए हौ ॥
ज्ञान-गुन गौरव-गुमान-भरे फूले फिरौ
बंचक के काज पै न रंचक बराए हौ ।
रसिक-सिरौमनि कौ नाम बदनाम करौ
मेरी जान ऊधौ कूर-कूबरी-पठाए हौ ॥

कान्ह कूबरी के हिय-हुलसे-सरोजनि तैं
अमल अनंद-मकरंद जो ढरारै है।
कहै रतनाकर, यौं गोपी उर संचि ताहि
तामैं पुनि आपनौ प्रपंच रंच पारै है॥
आइ निरगुन-गुन गाइ ब्रज मैं जो अब
ताकौ उदगार ब्रह्मज्ञान-रस गारै है।
मिलि सो तिहारौ मधु-मधुप हमारैं नेह
देह मैं अछेह विष विषम बगारै है॥

सीता असगुन कौं कटाई नाक एक बेरि
सोई करि कूब राधिका पै फेरि फाटो है।
कहै रतनाकर परेखौ नाहिं याकौ नैंकु
ताकी तौ सदा की यह पाकी परिपाटी है ॥
सोच है यहै कै संग ताके रंगभौन माहिँ
कौन धौं अनोखौ ढङ्ग रचत निराटी है।
छाँटि देत कूबर कै आँटि देत डाँट कोऊ
काटि देत खाट किधौं पाटि देत माटी है ॥

Not of Standards

आए कंसराइ के पठाए वे प्रतच्छ तुम
लागत अलच्छ कुबजा के पच्छवारे हौ ।
कहै रतनाकर बियोग लाइ लाई उन
तुम जोग बात के बवंडर पसारे हौ ॥
कोऊ अबलानि पै न ढरकि ढरारे होत
मधुपुरवारे सब एके ढार ढारे हौ ।
लै गए अक्रूर क्रूर तन तैं छुड़ाइ हाय
ऊधौ तुम मन तैं छुड़ावन पधारे हौ ॥

उद्धव शतक

आए हौ अठाए वा छतीसे छलिया के इतै
बीस बिसै ऊधौ बीरबावन कलाँच है।
कहै रतनाकर प्रपञ्च ना पसारौ गाढ़े
बाढ़े पै रहौगे साढ़े बाइस ही जाँच है।।
प्रेम अरु जोग मैं है जोग छठैं-आठैं पर्यो
एक है रहैं क्यों दोऊ हीरा अरु काँच है।
तीन गुन पाँच तत्त्व बहकि बतावत सो
जैहै तीन-तेरह तिहारी तीन-पाँच है।।

कंस के कहे सौं जदुबंस कौ बताइ उन्हैं
तैसैं हीं प्रसंसि कुब्जा पै ललचायौ जो।
कहै रतनाकर न मुष्टिक चनूर आदि
मल्लनि कौ ध्यान आनि हिय कसकायौ जो ।।
नंद जसुदा की सुखमूरि करि धूरि सबै
गोपी ग्वाल गैयनि पै गाज लै गिरायौ जो ।
होते कहूँ क्रूर तौ न जानैं करते धौं कहा
एतौ क्रूर करम अक्रूर है कमायौ जो ।।
८८

चाहत निकारन तिन्हैं जो उर-अंतर तैं
ताकौ जोग नाहिं जोग-मन्तर तिहारे मैं ।
कहै रतनाकर बिलग करिबे मैं होति
नीति बिपरीत महा कहति पुकारे मैं ॥
तातैं तिन्हैं ल्याइ लाइ हिय तैं हमारे बेगि
सोचियै उपाय फेरि चित्त चेतवारे मैं ।
ज्यौं-ज्यौं बसे जात दूरि-दूरि प्रिय प्रान मूरि
त्यौं-त्यौं धँसे जात मन-मुकुर हमारे मैं ।

ह्याँ तो ब्रजजीवन सौ जीवन हमारौ हाय
जानैं कौन जीव लै उहाँ के जन जनमैं ।
कहै रतनाकर बतावत कछू कौ कछू
ल्यावत न नैंकु हूँ बिबेक निज मन मैं ॥
अच्छिनि उघारि ऊधौ करहु प्रतच्छ लच्छ
इत पसु-पच्छिनि हूँ लागि है लगन मैं ।
काहु की न जीहा करै ब्रह्म की समीहा सुनो
पीहा-पीहा रटत पपीहा मधुबन मैं ॥

६०

बाढ्यौ ब्रज पै जो ऋन मथुपुर-बासिनि कौ
तासौं ना उपाय काहूँ भाय उमहन कौं।
कहै रतनाकर बिचारत हुतीं हीं हम
कोऊ सुभ जुक्ति तासौं मुक्त है रहन कौं ॥
कीन्यौ उपकार दौरि दोउनि अपार ऊधौ
सोई भूरि भार सौं उबारत लहन कौं।
लै गयौ अक्रूर क्रूर तब सुख-मूर कान्ह
आए तुम आज प्रान-ब्याज उगहन कौं ॥

फा० १२

आतुर न होहु ऊधौ आवति दिवारी अबै
वैसियै पुरंदर-कृपा जौ लहि जाइगी।
होत नर ब्रह्म ब्रह्म-ज्ञान सौं बतावत जो
कछु इहिँ, नीति की प्रतीति गहि जाइगी॥
गिरिवर धारि जौ उबारि ब्रज लीन्यौ बलि
तौ तौ भाँति काहूँ यह बात रहि जाइगी।
नातरु हमारी भारी बिरह-बलाय-संग
सारी ब्रह्म-ज्ञानता तिहारी बहि जाइगी॥

आवत दीवारी बिलखाइ ब्रज-बारी कहैं
अबकै हमारैं गाँव गोधन पुजैहै को ।
कहै रतनाकर बिबिध पकवान चाहि
चाह सौं सराहि चख चंचल चलैहै को ॥
निपट निहोरि जोरि हाथ निज साथ ऊधौ
दमकति दिव्य दीपमालिका दिखैहै को ।
कूबरी के कूबर तैं उबरि न पावैं कान्ह
इंद्र-कोप-लोपक गुबर्धन उठैहै को ॥

बिकसित बिपिन बसंतिकावली कौ रंग
लखियत गोपिनि के अंग पियराने मैं ।
बौरे बृंद लसत रसाल-बर बारिनि के
पिक की पुकार है चबाव उमगाने मैं ॥
होत पतझार झार तरुनि-समूहनि कौ
बैहरि बतास लै उसास अधिकाने मैं ।
काम-बिधि बाम की कला मैं मीन-मेष कहा
ऊधौ नित बसत बसंत बरसाने मैं ॥

ठाम-ठाम जीवन-बिहीन दीन दीसै सबै
चलति चवाई-बात तापत घनी रहै।
कहै रतनाकर न चैन दिन-रैन परै
सूखी पत-छीन भई तरुनि अनी रहै॥
जार्‌यौ-अंग अब तौ बिधाता है इहाँ कौ भयौ
तातैं ताहि जारन की ठसक ठनी रहै।
बगर-बगर बृषभान के नगर नित
भीषम-प्रभाव ऋतु ग्रीषम बनी रहै॥

९७

रहति सदाई हरियाई हिय-घायनि मैं
ऊरध उसास सो झकोर पुरवा की है।
पीव-पीव गोपी पीर-पूरित पुकारति हैं
सोई रतनाकर पुकार पपिहा की है।।
लागी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ
उठै चित मैं चमक सो चमक चपला की है।
बिनु घनस्याम धाम-धाम ब्रज-मंडल मैं
ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है।।

९८

जात घनस्याम के ललात दृग-कंज-पाँति
घेरी दिख-साँध-भौँर-भीर की अनी रहै।
कहै रतनाकर बिरह बिधु बाम भयौ
चंद्रहास ताने घात घालत घनी रहै॥
सीत-घाम-बरषा-बिचार बिनु आने ब्रज
पंचबान-बाननि की उमड़ ठनी रहै।
काम बिधना सौं लहि फरद दवामी सदा
दरद दिवैया ऋतु सरद बनी रहै॥

रीते परे सकल निषंग कुसुमायुध के
दूर दुरे कान्ह पै न तातैं चलै चारौ है।
कहै रतनाकर बिहाइ बर मानस कौं
लीन्यौ है हुलास-हंस बास दूरिवारौ है॥
पाला परै आस पै न भावत बतास बारि
जात कुम्हिलात हियौ कमल हमारौ है।
षट ऋतु ह्वैहै कहूँ अनत दिगंतनि मैं
इत तौ हिमंत कौ निरंतर पसारौ है॥

काँपि-काँपि उठत करेजौ कर चाँपि-चाँपि
उर ब्रजबासिनि कैं ठिठुर ठनी रहै।
कहै रतनाकर न जीवन सुहात रंच
पाला की पटास परी आसनि घनी रहै ॥
बारिनि मैं बिसद बिकास ना प्रकास करै
अलिनि बिलास मैं उदासता सनी रहै।
माधव के आवन की आवतिं न बातैं नैंकु
नित प्रति तातैं ऋतु सिसिर बनी रहै ॥

माने जब नैंकु ना मनाएँ मनमोहन के

तोपै मन-मोहिनि मनाए कहा मानौ तुम ।

कहै रतनाकर मलीन मकरी लौं नित

आपुनोहीं जाल अपने हीं पर तानौ तुम ।।

कबहूँ परे न नैन-नीर हूँ के फेर माहिँ

पैरिबौ सनेह-सिंधु माहिँ कहा ठानौ तुम ।

जानत न ब्रह्म हूँ प्रमानत अलच्छ ताहि

तोपै भला प्रेम कौं प्रतच्छ कहा जानौ तुम ।।

हाल कहा बूझत बिहाल परीं बाल सबै
बसि दिन द्वैक देखि दृगनि सिधाइयौ ।
रोग यह कठिन न ऊधौ कहिबे के जोग
सूधौ सौ सँदेस याहि तू न ठहराइयौ ।।
औसर मिलै और सर-ताज कछु पूछहिं तौ
कहियौ कछु न दसा देखी सो दिखाइयौ ।
आह के कराहि नैन नीर अवगाहि कछू
कहिबे कौं चाहि हिचकी लै रहि जाइयौ ।।

नंद जसुदा औ गाय गोप गोपिका की कछू
बात वृषभान-भौन हूँ की जनि कीजियौ ।
कहै रतनाकर कहति सब हा हा खाइ
ह्याँ के परपंचनि सौं रंच न पसीजियौ ।।
आँस भरि ऐहै और उदास मुख ह्वैहै हाय
ब्रज-दुख-त्रास की न तातैं साँस लीजियौ ।
नाम कौ बताइ औ जताइ गाम ऊधौ बस
स्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियौ ।।

ऊधौ यहै सूधौ सौ सँदेस कहि दीजौ एक
जानति अनेक न बिबेक ब्रज-बारी हैं।
कहै रतनाकर असीम रावरी तौ छमा
छमता कहाँ लौं अपराध की हमारी हैं॥
दीजै और ताजन सबै जो मन भावै पर
कीजै न दरस-रस बंचित बिचारी हैं।
भली हैं बुरी हैं औ सलज्ज निरलज्ज हू हैं
जो कहै सो हैं पै परिचारिका तिहारी हैं॥

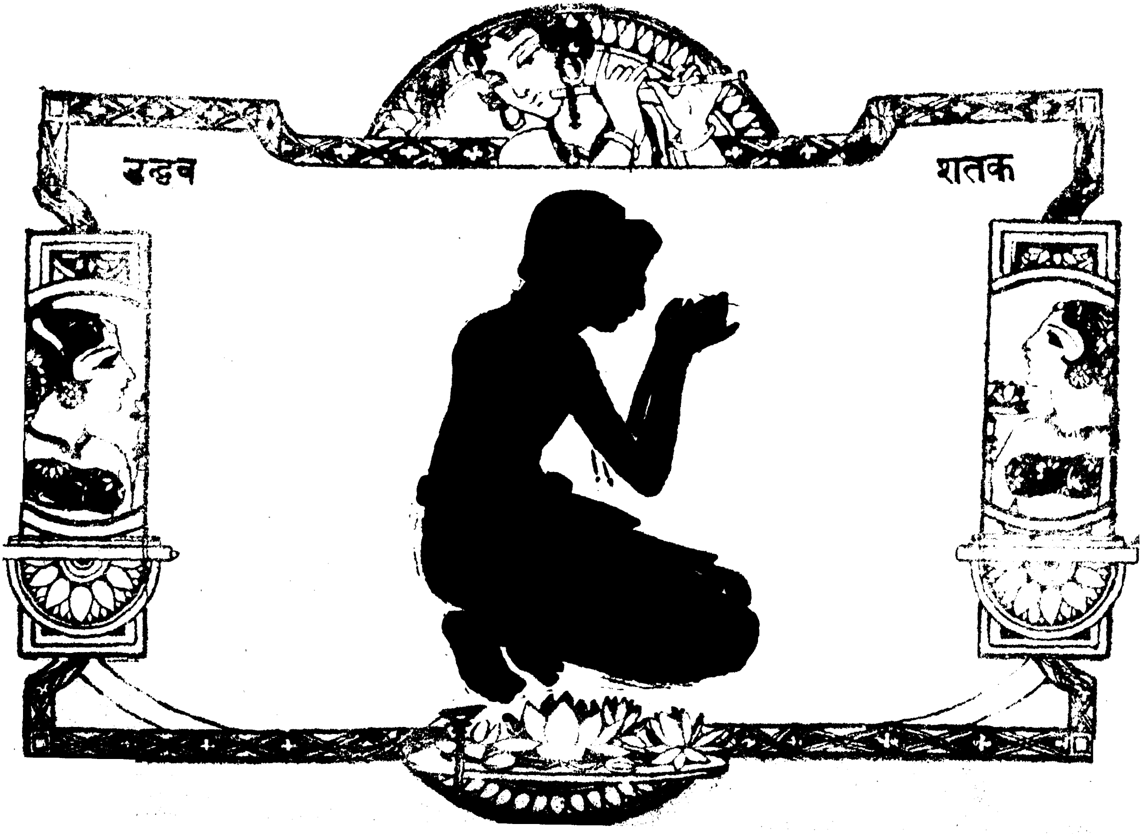
उद्धव
शतक

उद्धव के ब्रज से बिदा होते समय के कवित्त.

उद्धव
शतक

धाईं जित-तित तैं बिदाइ-हेत ऊधव की
गोपी भरीं आरति सँम्हारति न साँसुरी।
कहै रतनाकर मयूर-पच्छ कोऊ लिए
कोऊ गुंज-अंजली उमाहे प्रेम-आँसुरी॥
भाव-भरी कोऊ लिए रुचिर सजाव दही
कोऊ मही मंजु दाबि दलकति पाँसुरी।
पीट पट नंद जसुमति नवनीत नयौ
कीरति-कुमारी सुरवारी दई बाँसुरी॥

कोऊ जोरि हाथ कोऊ नाइ नम्रता सौं माथ
भाषन की लाख लालसा सौं नहि जात हैं।
कहै रतनाकर चलत उठि ऊधव के
कातर ह्वै प्रेम सौं सकल महि जात हैं॥
सबद न पावत सो भाव उमगावत जो
ताकि-ताकि आनन ठगे से ठहि जात हैं।
रंचक हमारी सुनौ रंचक हमारी सुनौ
रंचक हमारी सुनौ कहि रहि जात हैं॥

दाबि-दाबि छाती पाती-लिखन लगायौ सबै
ब्यौंत लिखिबै कौ पै न कोऊ करि जात है।
कहै रतनाकर फुरति नाहिं बात कछू
हाथ धर्‌यौ ही तल थहरि थरि जात है॥
ऊधौ के निहोरैं फेरि नैंकु धीर जोरैं पर
ऐसौ अंत ताप कौ प्रताप भरि जात है।
सूखि जाति स्याही लेखिनी कैं नैंकु डंक लागैं
अंक लागैं कागद बररि बरि जात है।

कोऊ चले काँपि संग कोऊ उर चाँपि चले
कोऊ चले कछुक अलापि हलबल से।
कहै रतनाकर सुदेस ताजि कोऊ चले
कोऊ चले कहत सँदेस अबिरल से॥
आँस चले काहू के सु काहू के उसाँस चले
काहू के हियै पै चंद्रहास चले हल से।
ऊधव कौं चलत चलाचल चली यौं चल
अचल चले और अचले हू भए चल से॥

दीन्यौ प्रेम-नेम-गरुवाई-गुन ऊधव कौं
हिय सौं हमेव-हरुवाई बहिराइ कै ।
कहै रतनाकर त्यौं कंचन बनाई काय
ज्ञान-अभिमान की तमाई बिनसाइ कै ।।
बातनि की धौंक सौं धमाइ चहुँ कोदनि सौं
निज बिरहानल तपाइ पघिलाइ कै ।
गोप की बधूटी प्रेम-बूटी के सहारे मारे
चल-चित-पारे की भसम भुरकाइ कै ।।

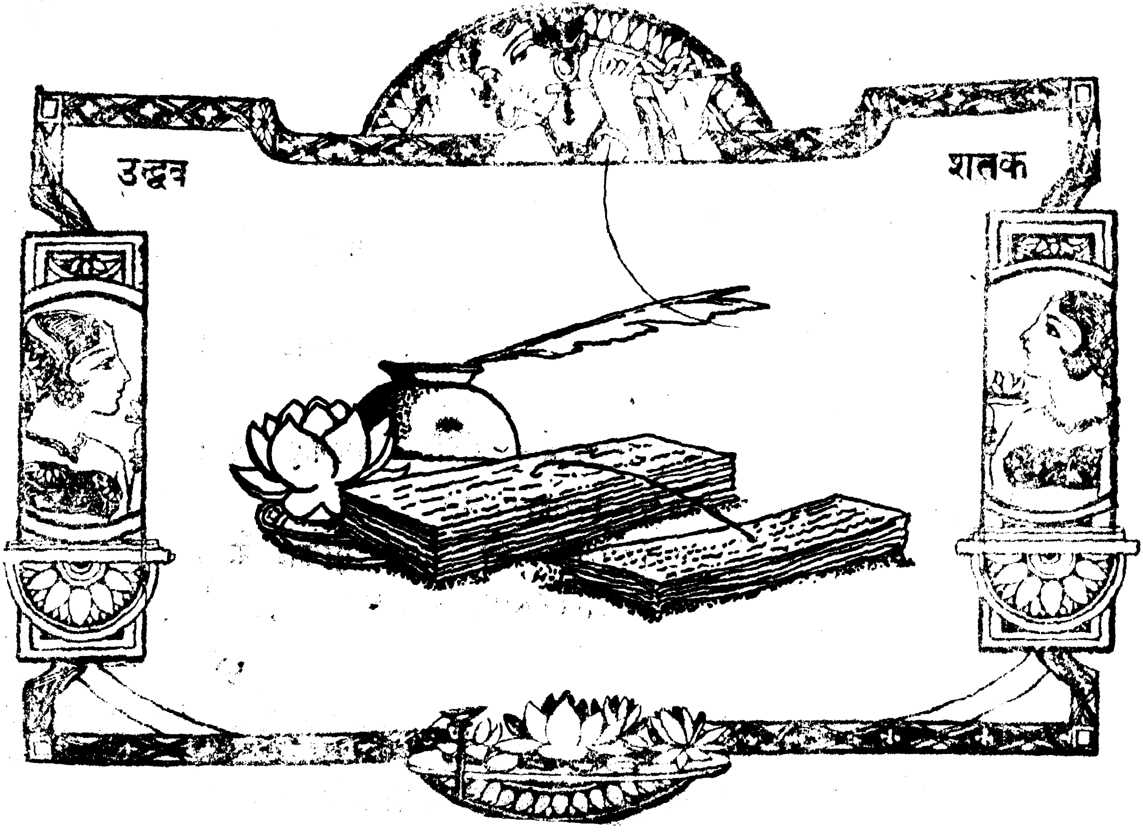
उद्धव
शतक

उद्धव के ब्रज से लौटते समय के कवित्त

उद्धव
शतक

गोपी, ग्वाल, नंद, जसुदा सौं तौ बिदा ह्वै उठे
उठत न पाय पै उठावत डगत हैं ।
कहै रतनाकर सँभारि सारथी पै नीठि
दीठिनि बचाइ चल्यौ चोर ज्यौं भगत हैं ॥
कुंजनि की कूल की कलिंदी की रुखेँदी दसा
देखि-देखि आँस औ उसाँस उमगत हैं ।
रथ तैं उतरि पथ पावन जहाँ हीं तहाँ
बिकल बिसूरि धूरि लोटन लगत हैं ॥

भूले जोग-छेम-मेम नेमहिँ निहारि ऊधौ
सकुचि समाने उर-अंतर हरास लौं।
कहै रतनाकर प्रभाव सब ऊने भए
सूने भए नैन बैन अरथ-उदास लौं॥
माँगी बिदा माँगत ज्यौं मीच उर भीचि कोऊ
कीन्यौ मौन गौन निज हिय के हुलास लौं।
बिथकित साँस-लौं चलत रुकि जात फेरि
आँस लौं गिरत पुनि उठत उसास लौं॥

उद्धव के मथुरा लौट आने के समय के कवित्त

उद्धव
शतक

चल-चित-पारद की दंभ-कंचुली कै दूरि
ब्रज-मग-धूरि प्रेम-मूरि सुभ-सीली लै।
कहै रतनाकर सु जोगनि विधान भावि
अमित प्रमान ज्ञान-गंधक गुनीली लै॥
जारि घट-अंतर हीं आह-धूम धारि सबै
गोपी बिरहागिनि निरंतर जगीली लै।
आए लौटि ऊधव बिभूति भव्य भायनि की
कायनि की रुचिर रसायन रसीली लै॥

१२१

आए लौटि लज्जित नवाए नैन ऊधौ अब
सब सुख-साधन कौ सूधौ सौ जतन लै ।
कहै रतनाकर गवाँए गुन गौरव औ
गरब-गढ़ी कौ परिपूरन पतन लै ॥
छाए नैन नीर पीर-कसक कमाए उर
दीनता अधीनता के भार सौं नतन लै ।
प्रेम-रस रुचिर बिराग-तूमड़ी मैं पूरि
ज्ञान-गूदड़ी मैं अनुराग सौ रतन लै ॥

105

आए दौरि पौरि लौं अवाई सुन ऊधव की
और ही विलोकि दसा दृग भरि लेत हैं।
कहै रतनाकर विलोकि बिलखात उन्हें
येऊ कर काँपत करेजैं धरि लेत हैं॥
आवति कछूक पूछिबे औ कहिबे की मन
परत न साहस पै दोऊ दरि लेत हैं।
आनन उदास साँस भरि उकसौंहैं करि
सौंहैं करि नैनन निचौंहैं करि लेत हैं॥

फा० १५

प्रेम-मद-छाके पग परत कहाँ के कहाँ
थाके अंग नैननि सिथिलता सुहाई है।
कहै रतनाकर यौं आवत चकात ऊधौ
मानौ सुधियात कोऊ भावना भुलाई है॥
धारत धरा पै ना उदार अति आदर सौं
सारत बँहोलिनि जो आँस-अधिकाई है।
एक कर राजै नवनीत जसुदा कौ दियौ
एक कर बंसी बर राधिका-पठाई है॥

ब्रज-रजरंजित सरीर सुभ ऊधव कौ
धाइ बलबीर ह्वै अधीर लपटाए लेत।
कहै रतनाकर सु प्रेम-मद-माते हरि
थरकत गात त्यौं थहरि थिराए लेत॥
कीरति-कुमारी के दरस-रस सद्य ही की
छलकनि चाहि पलकनि पुलकाए लेत।
परन न देत एक बूँद पुहुमी की पौंछि
पौंछि-पौंछि पट निज नैननि लगाए लेत॥

उद्धव
शतक

ब्रज से लौटने पर उद्धव-बचन श्री भगवान्-प्रति

उद्धव
शतक

आँसुनि की धार औ उभार कौं उसाँसनि के
तार हिचकिनि के तमक टरि लेन देहु ।
कहै रतनाकर फुरन देहु बात रंच
भावनि के विषम प्रपंच सरि लेन देहु ॥
आतुर है और हू न कातर बनावौ नाथ
नैसुक निवारि पीर धीर धरि लेन देहु ।
कहत अबै हैं कहि आवत जहाँ लौं सबै
नैकु थिर कढ़त करेजौ करि लेन देहु ॥

रावरे पठाए जोग देन कौं सिधाए हुते
ज्ञान गुन गौरव के अति उदगार मैं।
कहै रतनाकर पै चातुरी हमारी सबै
कित धौं हिरानी दसा दारुन अपार मैं।।
उड़ि उधिरानी किधौं ऊरध उसासनि मैं
बहि धौं बिलानी कहूँ आँसुनि की धार मैं।
चूर ह्वै गई धौं भूरि दुख के दरेरनि मैं
छार ह्वै गई धौं बिरहानल की झार मैं।।

सीत-घाम-भेद खेद-सहित लखाने सबै
भूले भाव भेदता-निषेधन विधान के।
कहै रतनाकर न ताप ब्रजबालनि के
काली-मुख-ज्वाल ना दवानल समान के॥
पटकि पराने ज्ञान-गठरी तहाँ हीं हम
थमत बन्यौ ना पास पहुँचि सिवान के।
छाले परे पगनि अधर पर जाले परे
कठिन कसाले परे लाले परे प्रान के॥

ज्वालामुखी गिरि तैं गिरत द्रवे द्रव्य कैधौं
बारिद पियौ है बारि बिषके सिवाने मैं ।
कहै रतनाकर कै काली दाँव लेन-काज
फेन फुफकारै उहिं गावँ दुख-साने मैं ॥
जीवन बियोगिनि कौ मेघ अंचयौ सो किधौं
उफ्यौ पर्यौ न उर ताप अधिकाने मैं ।
हरि-हरि जासौं बरि-बरि सब बारी उठैं
जानैं कौन बारि बरसत बरसाने मैं ॥

लैके पन सूछम अमोल जो पठायौ आप
ताकौ मोल तनक तुल्यौ न तहाँ साँठी तैं ।
कहै रतनाकर पुकारे ठौर-ठौर पर
पौरि वृषभानु की हिरान्यौ मति नाठी तैं ॥
लीजै हेरि आपुहीं न हेरि हम पायौ फेरि
याही फेर माहि भए माठी दधि-आँठी तैं ।
ल्याए धूरि पूरि अंग अंगनि तहाँ की जहाँ
ज्ञान गयौ सहित गुमान गिरि गाँठी तैं ॥

ज्यौंहीं कछु कहन संदेस लग्यौ त्यौंहीं लख्यौ
प्रेम-पूर उमँगि गरे लौं चढ़्यौ आवै है ।
कहै रतनाकर न पाँव टिकि पावैं नैंकु
ऐसौ दृग-द्वारनि स-बेग कढ़्यौ आवै है ॥
मधुपुरि राखन कौ बेगि कछु ब्यौंत गढ़ौ
धाइ चढ़ौ ब्रज कै न जौपै गढ़्यौ आवै है ।
आयौ भज्यौ भूपति भगीरथ लौं हौं तौ नाथ
साथ लग्यौ सोई पुन्य-पाथ बढ़्यौ आवै है ॥

जैहै ब्यथा बिषम बिलाइ तुम्हैं देखत हीं
तातैं कही मेरी कहूँ झूँठि ठहरावौ ना।
कहै रतनाकर न याही भय भावैं भूरि
याही कहैं जावौ बस बिलँब लगावौ ना॥
एतौ और करत निवेदन स-बेदन हैं
ताकौ कछु बिलग उदार उर ल्यावौ ना।
तब हम जानैं तुम धीरज-धुरीन जब
एक बार ऊधौ बनि जाइ पुनि जावौ ना॥

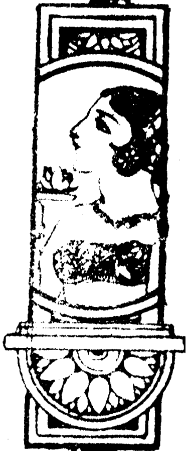

छावते कुटीर कहूँ रम्य जमुना कैं तीर
गौन रौन-रेती सौं कदापि करते नहीं।
कहै रतनाकर बिहाइ प्रेम-गाथा गूढ़
स्रौन रसना मैं रस और भरते नहीं॥
गोपी ग्वाल बालनि के उमड़त आँसू देखि
लेखि प्रलयागम हूँ नैंकु डरते नहीं।
होतौ चित चाव जौ न रावरे चितावन कौ
तजि ब्रज-गाँव इतै पाँव धरते नहीं॥

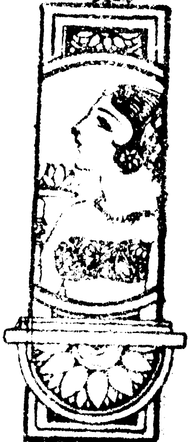

भाठी के बियोग जोग-जटिल-लुकाठी लाइ
लाग सौं सुहाग के अदाग पिघलाए हैँ।
कहै रतनाकर सुवृत्त प्रेम-साँचे माहिँ
कांचे नेम संजम निवृत्त कै ढराए हैँ॥
अब परि बीच खीचि बिरह-मरीचि-बिंब
देत लव लाग की गुबिंद-उर लाए हैँ।
गोपी-ताप - तरुन - तरनि - किरनावलि के
ऊधव नितांत कांत-मनि बनि आए हैँ।

इति श्रीउद्धव-शतक 117

उद्धव शतक

अकारादि शब्दार्थ सूची

अ, आ

अध-ऊरध = ऊपर नीचे

अभाय = वैकल्य

अवाय = अवाक्, स्तब्ध

अकह = अकथ

अगवानी = आगे आकर मिलना

अरुझानी = उलझ गई

आँस = आँसू

अनारी = योगी, स्त्रीहीन, वियोगी, मूर्ख

अन्यारी = पार्थक्य-हीन

अनुमानै = अनुमान करना

अनंग = अंगहीन, ब्रह्म, मदन

अवरोहैं = रोकेंगी, अवरोहण करना

अपर = दूसरा

आस = दिशा, आशा

अलिनि = भौंरों, सहेलियों, सखियों

अलच्छ = अलक्ष्य, अदृष्ट

अवगाहि = भरकर

आपुनपौ = अपना-पराया, अपनापन अस्तित्व

अखारे = रंगभूमि

अनकही = न कहने योग्य

अनेसौ = अँदेशा, संदेह

अक्रूर = अ = नहीं + क्रूर = कठोर जो कठोर न हो—कंस के दूत का नाम।

अच्छनि = अच्छि या आँखें

आधे कान = तनिक भी

आँठी = दही के थक्के

अलच्छ = लक्ष्यहीन, अदृष्ट, न देखते हुए

आंट = अटकाना, लगाना

अवर = अधिक होकर और बढ़ना

अछेह = बुरा, अनिष्ट

उ, ऊ

उठानि = प्रारम्भ

उबरि = उबलकर

उमहि = उमड़कर, उठकर, उमँगकर

उरात = समाप्त होना

उधरान्यो = चला गया

उझकि = उचककर

उसीर = खस

उद्‌वासैं = उठावैं, हटावैं, निर्वासित, उद्वासित करना

उतंग = ऊँचा

उघारि = खोलकर

उमहन = उऋण, उबरना या ऋण-मुक्त होना

उबारता = उभरना, मुक्त होना

उगहन = उगहना, वसूल करना

ऊबर = उठना, मुक्त होना
ऊरध = ऊपर, ऊर्ध्व स्वाँस, यह बुरी स्वाँस है
ऊने = न्यून, कम
उदास = रहित
उकसौंहैं = उत्सुक हो, ऊपर की ओर
उदगार = उद्गार
उधिरानी = बिखर गई
उसि = बसकर, रहकर
उपच्यो = उबलकर बाहर आना
उधिरानी = खो जाना, नष्ट होना

ए, ऐ

एतिऐ = इतना ही
एतो = इतना

ओ, औ, अं

ओप = कांति
ओक = घर, स्थान
अँवाँ = आँवाँ, मिट्टी के बरतन जहाँ पकते हैं

क

काज = वास्ते
कनूका = कण
कढ़्यो = निकला ही
काक-चंचवत = कौवे की चोंच-सी
कमेरी = दासी
कँखियाँ = काँखें, पार्श्व, छाती
कूल = किनारा
कलांच = अंशभूत
किरचैं = टुकड़े, पलकें
कै = करके
कीरति-कुमारी = राधिका
कुसुमायुध = मदन, पुष्प के आयुध-वाला
कोदनि = तरफ, ओर, दिशा
कंचुली = केंचुल, ऊपर का मैल
करेजैं = कलेजे पर
कोंछि = कुक्षि, ऊपर
कसाले = कष्ट, विपत्ति
कूब = कूबर

ख

खचिहैं = खिंच जाना, अंकित होना
खटिहै = चलेगी, लगेगी

ग

गहवरि = भरकर भारी होना
गोपि = छिपाकर
गोपद (भव) = गाय के पद-चिह्न-सा संसार
गिलन = निगलना
गोइ = छिपा रखना
गुनवारी = गुणमयी, डोरीदार
गरु = भारी
गुनीली = गुणवाली
गँवाये = खोये

गढ़ी = छोटे गढ़वाला प्रासाद
गारै = गिराता है, छोड़ता है, मिलता है

घ

घनस्याम = काला बादल, श्रीकृष्ण
घात = आघात, चोट, मौका
घालक = करना, फेकना
घाय = घात, चोट

च

चुचाइ = चूना, छलकना
चापि = दबाना
चोप = चाव, उल्लास
चाय = चाव
चख = आँखें
चवाव = उपहास, चर्चा
चमक = बिजली की चमक, रह रह कर उठनेवाली चमक या पीड़ा
चन्द्रहास = चाँदनी, तलवार
चलत न चारो = वश न चलना
चल = चंचल
चकात = चकित होते हुए

छ

छरकि = बिखरकर
छयो = छा गया
छवै = छाने लगीं
छोहि = क्षुब्ध होकर
छातैं = छतें
छार = धूल
छिगनी = कनिष्ठिका अँगुली
छलीसे = चालाक (धूर्त, नाई)
छठैं-आठैं = छः-आठ योग, ज्योतिष में विरोध या वियोग-मूलक-बुरा योग है, अस्तु, यह विरोधभाव-सूचक है
छाके = छके हुए

ज

जोइ = देखकर, रहकर
ज्वै = देख रहीं
जुगती = युक्ति
जुगावौ = संचित करो
जोग = संयोग, योग, मिलाप
जोहि = देखकर
जकौ = बकते हो
ज्याइवे = उत्पन्न होना
जुहारि = भेंटना, आराधना
जमातैं = समूह
जऊ = यद्यपि
जोग = क्षमता, शक्ति
जीहा = जिह्वा
जीवन = पानी, जीवन
जार्‍यो अंग = मदन, सूर्य
जगीली = जलनेवाली

झ

झार = झाड़ी
झौरि = झुण्ड
झार = लपट, अग्नि से तप्त वायु का झोंका

ट

टसकत = हटना, खिसकाना
टिकि = ठहर

ठ

ठाकुर = स्वामी
ठायो = स्थिर है
ठाहि = ठानकर
ठिठुर = ठंढक, शीतकृत संकोच
ठहि = स्थिर हो जाना

ड

डगि = डगमगाकर
डंक = नोंक, डंक (जैसे बिच्छू आदि का) जो विषैला और उष्णता-कारक है
डगत = हिलते, कँपते

ढ

ढाइ = गिराकर
ढार = ढालने का साँचा, झुकाव
ढारे = ढलेहो
ढरारै है = ढलकता है

त

तूरि = तुरही
तूल = तुल्य
तूंबरी = तुम्बी, (कूबड़-रूपी) जो तैरने में भी काम आती है
तपेला = गरम करने का पात्र
तीन-तेरह } = बिलग होना, दूर होना
तीन-पाँच }
तरुनि = वृक्ष, तरुनियाँ
तापत = तपन
तमाई = तमोगुण-कृत अन्धकार, ताँबापन
तार = सिलसिला

थ

थहिबो = थाह लेना
थामि = पकड़कर
थानहिं = स्थान ही में
थिरानी = स्थिर हो गई
थिर = स्थिर
थाती = न्यास, धरोहर
थापन = स्थापित करने को
थाके = थके हुए
थिराये = स्थिर किये

द

दीस्यो = दिखाई पड़ा
दुवार = द्वार, दरवाजा
दरिबो = मलना
दरिब = नाश करना

दौनौ=द्रोणाचल
दिख-साध=देखने की इच्छा
दवागी=दावाग्नि, वन की आग
दीठि=दृष्टि
दंभ=छल, कपट
दरि=दमन करना, दबाना
दरेरनि=रगड़, रेल-पेल
द्रवे=पिघले हुए
दुरे=छिपे, दूर हो गये
दाट=सहायक लकड़ी

ध

धरक=भय
धौंक=धौंकना

न

निफल=निष्फल
निवारि=दूर या अलग करके
निवेरी=निवृत्त
निरबैहैं=निबाहेंगी
निरवारन=सुलझाने, खोलने
नखियाँ=नख, नाखून
नाय=नौका
नारिन=स्त्रियाँ, नाड़ी
निहोरि=निहोरा करना, एहसान करना
निषंग=तरकस
नहि=बँधना, नथना
नीठि=किसी प्रकार, बलात्
नतन=झुकना, अवनति, नम्रता
निचौहैं=नीचे
नाठी=बलात्
निराटी=निराला, नवीन

प

पचि=श्रम करके
पाल=जहाज का पाल
पुचारे=चुमकार
पा१.
पासनि·
पँवारि=१.
परतच्छ=प्रत
पतेक=प्रत्येक
पारी=डालकर
पराने=भाग गये
प्रकार=उपाय, रीति
पाती=पत्र, चिट्ठी, पत्ती
पीहा=हा! प्रिय, प्रिय! हा!
पुरतीं=पूरी होतीं, मिलतीं
पतझार=पतझड़, लजा जाना
पतिछीन=पत्तों के बिना, लज्जा-रहित
पैरिबो=तैरना

द

फ

= शेषनाग

फनि = पहल, टुकड़े

फुरत = निकलना, प्रस्फुटित होना, स्फुरण होना

फाटी है = फट पड़ना

ब

बहिराइ = बाहर करके, दूर करके

बड़ोखिनि = कुएँ की बातों से

ब्यौंतगढ़ो = उपाय करो

बिलग = बुरा मानना, दूसरा समझना

बटमार = रास्ते के लुटेरे, डाकू

बागार है = फैलाता है

बिथके = थकित हुए

बारन = मना करना

बात = हवा, बातचीत

बिरमानी = बिरम गई

बयारि = हवा

बूड़े = डूबे

बानक = बनावा

बराइहै = हटावेगा

बयात = बकना

बाद = व्यर्थ त्याज्य, कथन

बिसास = विश्वास

बवंडर = चक्करदार हवा का झोंका

बसीठ = दूत

बंचक = ठग

ब्रह्मद्रव = गंगाजल, श्रीकृष्ण-शोभ-रस

बौरे = बौरयुक्त, प्रमत्त

बेहरि = हवा

बारिनि = बाला स्त्रियों, बागीचों

बातें = हवायें, संदेशे, समाचार

ररि = ऐंठ या मुड़कर

भ

भचि = घिर आई

भरमाये = भ्रम में भुलाये हुए

भ्वै = भीग रही

भौंर = भँवर, भ्रमर

भोरे = भोले-भाले

भरिबो = भरना, करना

भीति = डर, दीवाल

भड़ंग = भोंदपन

भुजंगनि = काला सर्प, कहते हैं कि सर्प आँखों से सुनता है, अतः चक्षुश्रवा कहाता है।